ॐ

ईशावास्योपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ पहला संस्करण, ५२५०
सं० १९९४ दूसरा संस्करण, ३०००
सं० १९९७ तीसरा संस्करण, ३०००

मूल्य ≡) तीन आ

नम्र निवेदन

वेदके शीर्षस्थानीय भागका नाम वेदान्त है। यह वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या ही सर्वत्र समत्वका दर्शन कराती है, ब्रह्मविद्यासे ही अज्ञानकी ग्रन्थियाँ कटती हैं, ब्रह्मविद्यासे ही कर्म-चाञ्चल्य सुसंयत और चित्त अन्तर्मुखी होता है। ब्रह्मविद्यासे ही मिथ्या अनुभूतिका विनाश और परम सत्यकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मविद्यासे ही एकात्मरसप्रत्ययसार अवाङ्मनसगोचर स्वयंप्रकाश विज्ञानस्वरूप चेतनानन्दघन रसैकघन ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इस ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन वेदके जिस अत्युच्च शिरोभागमें है, उसीका नाम उपनिषद् है। इन्हीं उपनिषदोंके मन्त्रोंका समन्वय और इनकी मीमांसा भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रमें की है और इन्हीं उपनिषद्रूपी गौओंसे गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सुधी भोक्ताओंके लिये गीतामृतरूपी दुग्धका दोहन किया था। इसीलिये उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं, और भारतके प्रायः सभी आचार्योंने इसी प्रस्थानत्रयीके प्रकाशसे सत्यका अन्वेषण किया है। और प्रायः सभीने इनपर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं। अपने-अपने स्थानमें सभी आचार्योंके भाष्य उपादेय हैं, परन्तु अद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन करनेवाले भाष्योंमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य सर्वोपरि माना जाता है। उपनिषदोंपर तो दूसरे आचार्योंके भाष्य हैं भी थोड़े ही। भगवान्की कृपासे आज कुछ उपनिषदोंके उसी शाङ्करभाष्यका भाषानुवाद प्रकाश करनेका सौभाग्य गीताप्रेसको प्राप्त हुआ है। आशा है ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु अधिकारी पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

प्रथम तो यह विषय ही इतना कठिन है, कि जो ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरुके मुखसे श्रद्धापूर्वक सुनने और मनन करनेपर ही शुद्धान्तःकरण पुरुषके समझमें आता है। फिर शाङ्करभाष्य भी कठिन है। अतएव इसके अनुवादमें जहाँ-जहाँ त्रुटियाँ रह गयी हों उन्हें विद्वान् पुरुष कृपा करके बतला देनेकी कृपा करेंगे तो अनुवादक और प्रकाशक कृतज्ञतापूर्वक अगले संस्करणमें यथासाध्य उनका संशोधन करनेकी चेष्टा करेंगे। अनुवादक महोदयने उपनिषदोंके शाङ्करभाष्यके अनुवादकी जगह अपना नाम प्रकाश करनेकी शील और संकोचवश आज्ञा नहीं दी, इसीलिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया है।

वास्तवमें ब्रह्मविद्या इस प्रकार प्रकाशित करनेकी वस्तु भी नहीं है। इसीलिये ऋषियोंने इसमें दोनों ओरसे अधिकारकी आवश्यकता बतलायी है। परन्तु समयके प्रभावसे प्रकाशन आवश्यक हो गया। बंगला और मराठी आदि भाषाओंमें कई अनुवाद हैं। परन्तु हिन्दीमें सरल अनुवाद कम मूल्यमें शायद ही मिलता है। इसीलिये गीताप्रेसने इसके प्रकाशनका यह प्रयत्न किया है। विद्वज्जन इसके लिये क्षमा करेंगे।

प्रकाशक

प्रस्तावना

यह बात संसारके प्रायः सभी विचारकोंको मान्य है कि मनुष्यको आत्यन्तिक शान्ति बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिये तो उसे किसी अनन्त और निर्बाध-सुखस्वरूप सत्ताकी ही शरण लेनी पड़ेगी। उस अनन्त सुखसमुद्रकी उपलब्धि ही संसारके समस्त दार्शनिकोंका ध्रुव लक्ष्य रहा है। उसका भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनुभव करनेके कारण ही विभिन्न मतवादोंकी सृष्टि हुई है। संसारके उस एकमात्र मूलतत्त्वकी शोध अनादि कालसे होती आयी है। इस विषयमें सभी देशी और विदेशी विद्वान् सहमत हैं कि इसका निर्णय करनेवाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। वेद अनादि हैं। वे कब रचे गये और कौन उनका रचयिता था—इसका आजतक कोई सन्तोषजनक निर्णय नहीं हो सका।

विषयकी दृष्टिसे वेदोंके तीन भाग हैं, जो तीन काण्ड कहलाते हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। विश्वके मूलतत्त्वका विचार ज्ञानकाण्डमें किया गया है; कर्म और उपासना उस तत्त्वको उपलब्ध करनेकी योग्यता प्रदान करते हैं इसलिये वे साधनस्वरूप हैं और ज्ञान सिद्धान्त है। वेदके ज्ञानकाण्डका ही नाम उपनिषद् है। इन्हें वेदान्त या आम्नायमस्तक कहकर भी पुकारा जाता है। अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्मविद्याके आदिस्रोत उपनिषद् ही हैं।

उपनिषदोंका महत्त्व वैदिकमतावलम्बियोंको ही मान्य हो—ऐसी बात नहीं है। न जाने कितने विधर्मी और विदेशी महानुभाव भी इनकी गम्भीरता, मधुरता और तात्त्विकतापर मुग्ध हो चुके हैं। मंसूर, सर्मद, फैज़ी, बुल्लाशाह और दाराशिकोह आदि महानुभावोंने इस्लामधर्मावलम्बी होकर भी औपनिषद सिद्धान्तको ही अपने जीवनका सर्वस्व बनाया था। मंसूर और सर्मद्ने तो शिर देकर भी इस सिद्धान्तको छोड़ना पसन्द नहीं किया। पश्चिमीय

विद्वानोंमें भी मैक्समूलर, शोपेनहर और गोल्डस्टकर आदि ऐसे अनेकों महानुभाव हो गये हैं जिन्होंने उपनिषदोंके महत्त्वको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । मैक्समूलर साहब (Prof. Max Muller) कहते हैं—

'The Upanishads are the......sources of......the Vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme.'

अर्थात् उपनिषद् वेदान्तदर्शनके आदिस्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुँच गयी मालूम होती है ।

शोपेनहर (Schopenhauer) का कथन है—

'In the world there is no study......so beneficial and so elevating as that of Upanishads......(they) are a product of the highest wisdom......it is destined sooner or later to become the faith of the people.'

अर्थात् सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो । वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं । आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनताका धर्म होगा ।

डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) कहते हैं—

'The Vedant is the sublimest machinery set in to motion by oriental thought.'

अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जेका यन्त्र है, जिसे पूर्वीय विचारधाराने प्रवृत्त किया है ।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदोंका महत्त्व अन्य मतावलम्बियों एवं विदेशियोंको भी कम मान्य नहीं है । वास्तवमें ब्रह्मविद्याकी ऐसी ही महिमा है । जिसने इस अमृतका पान किया है वह निहाल हो गया; उसे न कुछ कर्तव्य है और न कुछ प्राप्तव्य ।

* यहाँ जो पश्चिमीय विद्वानोंके मत उद्धृत किये हैं वे 'कल्याण' वर्ष ७ की आठवीं संख्याके 'ब्रह्मविद्या-रहस्य' नामक लेखसे लिये हैं ।

ब्रह्माकार वृत्तिका कितना महत्त्व है इसका वर्णन करते हुए वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीकार कहते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिंल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

अर्थात् 'जिसका मन उस अपार सच्चिदानन्दसमुद्र परब्रह्ममें लीन हो गया है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतकृत्य हो जाती है और उसके कारण पृथिवी भी पुण्यवती हो जाती है।' ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमें सारा संसार सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है, असद् जड और दुःख उसे प्रतीत ही नहीं होता । उसकी दृष्टिमें तो द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका भी भेद नहीं रहता, वह तो एक निश्चल, निर्बाध और निष्कल चिदानन्दघन सत्तामात्र रह जाता है । उसके द्वारा जो कुछ कार्य होते हैं वह दूसरोंकी ही दृष्टिमें होते हैं, उसकी दृष्टिमें तो न कोई कार्य है और न उसका करनेवाला ही । सुवर्णके आभूषणादि भेद बहिर्मुख पुरुषोंकी दृष्टिमें होते हैं, सुवर्णके तात्त्विक स्वरूपको देखनेवाला उन्हें कभी नहीं देखता, बाह्यदर्शी लोग कहते हैं कि जलमें तरङ्गें उठती हैं, किन्तु भला जलने उन्हें कब देखा है? मृत्तिकासे बननेवाले घट-शरावादि व्यवहारी लोगोंकी दृष्टिमें ही बनते हैं । तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें तो वह आगे-पीछे और बीचमें भी केवल मृन्मात्र ही है । अस्तु ।

उपनिषदें साक्षात् कामधेनु हैं । ब्रह्मसूत्रोंकी रचना भी इन्हींके वाक्यों और शब्दोंकी संगति लगानेके लिये हुई है तथा श्रीमद्भगवद्गीता भी गोपालनन्दनद्वारा दुहा हुआ इन्हींका दूध है । भारतवर्षमें जितने आस्तिक सम्प्रदाय हैं उन सबके आधार ये ही तीन ग्रन्थरत्न हैं । ये प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं । प्रायः सभी सम्प्रदायोंके आचार्योंने इनकी विवेचनात्मक व्याख्या लिखकर अपने मत स्थापित किये हैं । अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शिवाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोंकी आधारशिला ये ही ग्रन्थरत्न हैं । अपने-अपने विचारानुसार आचार्योंने उनमें अपने ही सिद्धान्तकी झाँकी की है । अद्वैतवादके प्रधान आचार्य भगवान् शङ्कराचार्य हैं । उनके भाष्यकी गम्भीरता, विद्वत्ता, स्फुटता और प्रामाणिकता सभीने स्वीकार की है । उनकी प्रसन्नगम्भीर लेखनी-

का वास्तविक रसास्वाद तो वे ही कर सकते हैं जो सब प्रकार साधनसम्पन्न, अद्वैतनिष्ठ तथा संस्कृत वाङ्मयके प्रौढ विद्वान् हैं। तथापि जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है उनमेंसे बहुत-से महानुभाव, जो उनके अबाध्य सिद्धान्तपर मुग्ध होकर उनके चरणोंपर निछावर हो चुके हैं, उनकी वाणीका भावमात्र जाननेके लिये निरन्तर उत्सुक रहते हैं। उनके साथ स्वयं भी उस भावका अवगाहन करनेके लिये ही मैंने भगवान्‌के उपनिषद्भाष्यका भावार्थ लिखनेका दुःसाहस किया है। यद्यपि मैं किसी प्रकार इस महान् कार्यको हाथमें लेनेकी योग्यता नहीं रखता तो भी जिसकी इच्छासे सम्पूर्ण प्राणी अहर्निश भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगे रहते हैं उस सर्वान्तर्यामी जगन्नाट्यसूत्रधरने ही मुझे भी इसमें जोड़ दिया। मेरी इस चपलतासे यदि कुछ महानुभावोंका मनोरञ्जन हो सका तो मैं इस प्रयासको सफल समझूँगा।

इस समय प्रायः एक सौ बारह उपनिषदें प्रसिद्ध हैं; परन्तु भगवान् शङ्कराचार्य तथा अन्य आचार्योंने भी अधिकतर आरम्भकी दश-बारह उपनिषदोंपर ही भाष्य लिखे हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्य उपनिषदें अप्रामाणिक हैं, क्योंकि उनमेंसे बहुत-सी उपनिषदोंके वाक्य स्वयं भगवान्‌ने भी अपने भाष्योंमें उद्धृत किये हैं। इससे उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता स्पष्टतया सिद्ध होती है।

उपनिषदोंमें यह सबसे पहली ईशावास्योपनिषद् है। यह उपनिषद् शुक्लयजुःसंहिताका—जिसे वाजसनेयीसंहिता भी कहते हैं—चालीसवाँ अध्याय है। इससे पहले उनतालीस अध्यायोंमें कर्मकाण्डका निरूपण है। यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है। इसका प्रथम मन्त्र 'ईशा वास्यम्' इत्यादि होनेके कारण इस उपनिषद्का नाम भी 'ईशावास्य' हो गया है। आकारमें बहुत छोटी होनेपर भी इसका महत्त्व एवं प्रामाण्य सर्वसम्मत है। भगवान् हमें इसका तात्पर्य समझनेकी बुद्धि प्रदान करें, जिससे हम सच्चे सुखकी उपलब्धि कर सकें।

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका



ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ईशावास्योपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

ईशिता सर्वभूतानां सर्वभूतमयश्च यः।
ईशावास्येन सम्बोध्यमीश्वरं तं नमाम्यहम्॥

शान्ति-पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है। तथा [प्रलयकालमें] पूर्ण [कार्यब्रह्म] का पूर्णत्व लेकर (अपनेमें लीन करके) पूर्ण [परब्रह्म] ही बच रहता है। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

सम्बन्ध-भाष्य

ईशादि-मन्त्राणां विनियोगः

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः । तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः ।

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् । सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात् । गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात् । तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय

'ईशा वास्यम्' आदि मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग नहीं है, क्योंकि वे आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले हैं जो कि कर्मका शेष नहीं है। आत्माका यथार्थ स्वरूप शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व आदि है जो आगे कहा जानेवाला है। इसका कर्मसे विरोध है; अतः इन मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग न होना ठीक ही है।

आत्माका ऐसे लक्षणोंवाला यथार्थ स्वरूप उत्पाद्य[1], विकार्य[2], आप्य[3] और संस्कार्य[4] अथवा कर्ता-भोक्तारूप नहीं है, जिससे कि वह कर्मका शेष हो सके। सम्पूर्ण उपनिषदोंकी परिसमाप्ति आत्माके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेमें ही होती है तथा गीता और मोक्षधर्मोंका भी इसीमें तात्पर्य है। अतः आत्माके सामान्य लोगोंकी बुद्धिसे सिद्ध होनेवाले अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, तथा अशुद्धत्व और पापमयत्वको

१–उत्पन्न किया जानेयोग्य, जैसे पुरोडाश आदि। २–विकारयोग्य, जैसे सोम आदि। ३–बलवान् करने अथवा प्राप्त करनेयोग्य, जैसे मन्त्रादि। ४–संस्कारयोग्य, जैसे व्रीहि आदि कर्मके शेषभूत पदार्थोंमें इन धर्मोंका रहना आवश्यक है। आत्मामें ऐसा कोई धर्म नहीं है। इसलिये वह कर्मशेष नहीं हो सकता।

लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।

लेकर ही कर्मोंका विधान किया गया है ।

कर्मणि कस्य अधिकारः

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनादृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति ।

कर्माधिकारके ज्ञाताओंका भी यही कथन है कि जो पुरुष ब्रह्मतेज आदि दृष्ट और स्वर्ग आदि अदृष्ट कर्मफलोंका इच्छुक है और 'मैं द्विजाति हूँ तथा कर्मके अनधिकार-सूचक कानेपन, कुबड़ेपन आदि धर्मोंसे युक्त नहीं हूँ' ऐसा अपनेको मानता है वही कर्मका अधिकारी है।

अनुबन्ध-चतुष्टयम्

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति । इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्सङ्क्षेपतो व्याख्यास्यामः ।

अतः ये मन्त्र आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करके आत्म-सम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञानको निवृत्त करते हुए संसारके शोक-मोहादि धर्मोंके विच्छेदके साधनस्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जिनके [मुमुक्षु-रूप] अधिकारी, [आत्मैक्यरूप] विषय, [प्रतिपाद्य-प्रतिपादकरूप] सम्बन्ध और [अज्ञाननिवृत्ति तथा परमानन्दप्राप्तिरूप] प्रयोजनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन मन्त्रोंकी अब हम संक्षेपसे व्याख्या करेंगे ।

सर्वत्र भगवद्दृष्टिका उपदेश

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

जगत्‌में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादनीय है [अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिये]। उसके त्याग-भावसे तू अपना पालन कर; किसीके धनकी इच्छा न कर ॥ १ ॥

ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमिष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्।

जो ईशन (शासन) करे उसे ईट् कहते हैं उसका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। सबका ईशन करनेवाला परमेश्वर परमात्मा है। वही सब जीवोंका आत्मा होकर अन्तर्यामिरूपसे सबका ईशन करता है। उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईशसे सब वास्य—आच्छादन करनेयोग्य है।

किम्? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।

क्या [आच्छादन करनेयोग्य है]? यह सब जो कुछ जगती अर्थात् पृथिवीमें जगत् (स्थावर-जंगम प्राणिवर्ग) है वह सब अपने आत्मा ईश्वरसे—अन्तर्यामिरूपसे यह सब कुछ मैं ही हूँ—ऐसा जानकर अपने परमार्थसत्यस्वरूप परमात्मासे यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करनेयोग्य है।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेन आच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन । तद्वदेव हि स्वात्मनि अध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्याम्; जगत्यामिति उपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

जिस प्रकार चन्दन और अगरु आदिकी, जल आदिके सम्बन्धसे गीलेपन आदिके कारण उत्पन्न हुई औपाधिक दुर्गन्धि उन (चन्दनादि) के स्वरूपको घिसनेसे उनके पारमार्थिक गन्धसे आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार अपने आत्मामें आरोपित स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि लक्षणोंवाला द्वैतरूप जगत् जगतीमें यानी पृथिवीमें—'जगत्याम्' यह शब्द [स्थावर-जंगम सभीका] उपलक्षण करानेवाला होनेसे—इस परमार्थ सत्यस्वरूप आत्माकी भावनासे नामरूप और कर्ममय सारा ही विकारजात परित्यक्त हो जाता है ।

आत्मनिष्ठस्य त्याग एव अधिकारः

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति अतस्त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः—भुञ्जीथाः पालयेथाः ।

इस प्रकार जो, ईश्वर ही चराचर जगत्का आत्मा है—ऐसी भावनासे युक्त है, उसका पुत्रादि तीनों एषणाओंके त्यागमें ही अधिकार है—कर्ममें नहीं । उसके त्यक्त अर्थात् त्यागसे [आत्माका पालन कर] । त्यागा हुआ अथवा मरा हुआ पुत्र या सेवक, अपने सम्बन्धका अभाव हो जानेके कारण अपना पालन नहीं करता; अतः त्यागसे—यही इस श्रुतिका अर्थ है—भोग यानी पालन कर ।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम् । कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः ।

अथवा मा गृधः । कस्मात् ? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत । आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥१॥

इस प्रकार एषणाओंसे रहित होकर तू गर्द्ध अर्थात् धन-विषयक आकांक्षा न कर । किसीके धनकी अर्थात् अपने या पराये किसीके भी धनकी इच्छा न कर । यहाँ 'स्वित्' यह अर्थरहित निपात है ।

अथवा आकांक्षा न कर, क्योंकि धन भला किसका है ? इस प्रकार इसका आक्षेपसूचक अर्थ भी हो सकता है अर्थात् धन किसीका भी नहीं है जो उसकी इच्छा की जाय । यह सब आत्मा ही है—इस प्रकार ईश्वरभावनासे यह सभी परित्यक्त हो जाता है । अतः यह सब आत्मासे उत्पन्न हुआ तथा सब कुछ आत्मरूप ही होनेके कारण मिथ्यापदार्थविषयक आकांक्षा न कर—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥१॥

मनुष्यत्वाभिमानीके लिये कर्मविधि

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतयात्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः । अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय असक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः—

इस प्रकार उपर्युक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है कि आत्मवेत्ताको पुत्रादि एषणात्रयका त्याग करते हुए ज्ञाननिष्ठ रहकर ही आत्माकी रक्षा करनी चाहिये । अब जो आत्मतत्त्वका ग्रहण करनेमें असमर्थ दूसरा अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह दूसरा मन्त्र उपदेश करता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

इस लोकमें कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे । इस प्रकार मनुष्यत्वका अभिमान रखनेवाले तेरे लिये इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे [अशुभ] कर्मका लेप न हो ॥ २ ॥

कुर्वन्नेव इह निवर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषे- ज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् । तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत् कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते ।

इस लोकमें अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही सौतक अर्थात् सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे । पुरुषकी बड़ी-से-बड़ी आयु इतनी ही बतलायी गयी है । अतः उस प्राप्त हुई आयुका अनुवाद करते हुए यह विधान किया है कि यदि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे तो कर्म करते हुए ही जीना चाहे ।

एवमेवम्प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः ।

इस तरह, इस प्रकार जीनेकी इच्छा करनेवाले तुझ मनुष्य—मनुष्यत्वमात्रका अभिमान करनेवालेके लिये इस अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही [आयु बितानेके] वर्तमान प्रकारसे भिन्न और कोई ऐसा प्रकार नहीं है जिससे अशुभ कर्मका लेप न हो अर्थात् जिससे वह पुरुष कर्मसे

अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ।

ज्ञानकर्मसमुच्चयखण्डनम्

कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ।

उच्यते; ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? इहाप्युक्तं 'यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्' 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इति च । 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्; ततो न पुनरियात्' इति संन्यासशासनात् । उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति ।

लिप्त न हो । अतः अग्निहोत्र आदि शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही जीनेकी इच्छा करे ।

पूर्व०—यह कैसे जाना गया कि पूर्व मन्त्रसे संन्यासीकी ज्ञाननिष्ठाका तथा द्वितीय मन्त्रसे संन्यासमें असमर्थ पुरुषकी कर्मनिष्ठाका वर्णन किया गया है ?

सिद्धान्ती—कहते हैं, क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि, जैसा पहले (सम्बन्ध-भाष्यमें) कह चुके हैं, ज्ञान और कर्मका विरोध पर्वतके समान अविचल है । यहाँ भी 'जो जीनेकी इच्छा करे वह कर्म करते हुए ही [जीना चाहे]' तथा 'यह सब ईश्वरसे आच्छादन करनेयोग्य है' 'उस (चराचर जगत्) के त्यागद्वारा आत्माकी रक्षा कर' 'किसीके धनकी इच्छा न कर' इत्यादि वाक्योंसे [कर्मी और संन्यासीकी निष्ठाओंका भेद ही] निरूपण किया है । तथा 'जीवन या मरणका लोभ न करे, वनको चला जाय—यही वेदकी मर्यादा है । और फिर वहाँसे घर न लौटे' इस वाक्यसे भी [ज्ञाननिष्ठके लिये] संन्यासका ही विधान किया है । आगे इन दोनों निष्ठाओंके फलका भेद भी बतलायेंगे ।

इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण । निवृत्तिमार्गेण एषणात्रयस्य त्यागः । तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति । "न्यास एवात्यरेचयत्" इति च तैत्तिरीयके ।

"द्वाविमावथ पन्थानौ
यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो
निवृत्तश्च विभावितः ॥"
(महा० शा० २४१ । ६)

इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागश्चानयोः दर्शयिष्यामः ॥ २ ॥

ये दोनों ही मार्ग सृष्टिके आरम्भसे परम्परागत हैं । इनमें पहले कर्ममार्ग है और पीछे संन्यास । [संन्यासरूप] निवृत्तिमार्गसे तीनों एषणाओंका त्याग किया जाता है । इन दोनोंमें संन्यासमार्ग ही उत्कर्ष प्राप्त करता है । तैत्तिरीय श्रुतिमें भी कहा है कि "संन्यास ही उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ ।" वेदाचार्य भगवान् व्यासने भी बहुत सोच-विचारकर ही अपने पुत्रसे यह निश्चित बात कही है—"जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं ऐसे ये दो ही मार्ग हैं—एक तो प्रवृत्तिलक्षण धर्ममार्ग और दूसरा अच्छी तरह भावना किया हुआ निवृत्तिमार्ग ।" इन दोनोंका विभाग हम आगे दिखलायेंगे ॥२॥

अज्ञानीकी निन्दा

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—

अब अज्ञानीकी निन्दा करनेके लिये यह [तीसरा] मन्त्र आरम्भ किया जाता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं । जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थको निपातः।

ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिताः तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।

आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति। अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनः तिरस्करणात्। विद्यमानस्य आत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता- विद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते॥ ३॥

अद्वय परमात्मभावकी अपेक्षासे देवता आदि भी असुर ही हैं। उनके सम्पत्ति-स्वरूप लोक 'असुर्य' हैं। 'नाम' शब्द अर्थहीन निपात है।

जिनमें कर्मफलोंका लोकन—दर्शन यानी भोग होता है वे लोक अर्थात् जन्म (योनियाँ) अन्ध—अदर्शनात्मक तम यानी अज्ञानसे आच्छादित हैं। वे इस शरीरको छोड़कर अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार उन [ब्रह्मासे लेकर] स्थावरपर्यन्त योनियोंमें ही जाते हैं।

जो कोई आत्माका घात (नाश) करते हैं वे आत्मघाती हैं। वे लोग कौन हैं ? जो अज्ञानी हैं। वे सर्वदा अपने आत्माकी किस प्रकार हिंसा करते हैं ? अविद्यारूप दोषके कारण अपने नित्यसिद्ध आत्माका तिरस्कार करनेसे [अज्ञानी जीवोंकी दृष्टिमें] नित्य विद्यमान आत्माका अजरामरत्वादिज्ञानरूप कार्य यानी फल मरे हुएके समान तिरोभूत रहता है, इसलिये प्राकृत अज्ञानीजन आत्मघाती कहे जाते हैं। इस आत्मघातरूप दोषके कारण ही वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं॥ ३॥

आत्माका स्वरूप

यस्मात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते नात्महनः तत् कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—

जिस आत्माका हनन करनेसे अज्ञानीलोग जन्म-मरणरूप संसार-को प्राप्त होते हैं और उसके विपरीत ज्ञानीलोग मुक्त हो जाते हैं—वे आत्मघाती नहीं होते—वह आत्मतत्त्व कैसा है ? सो बतलाया जाता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूपसे विचलित न होनेवाला, एक तथा मनसे भी तीव्र गतिवाला है । इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है । वह स्थिर होनेपर भी अन्य सब गतिशीलोंको अतिक्रमण कर जाता है । उसके रहते हुए ही [अर्थात् उसकी सत्तामें ही] वायु समस्त प्राणियोंके प्रवृत्ति-रूप कर्मोंका विभाग करता है ॥ ४ ॥

अनेजत् न एजत् । एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः । तच्चैकं सर्वभूतेषु मनसः सङ्कल्पादिलक्षणाद् जवीयो जववत्तरम् ।

जो चलनेवाला न हो उसे 'अनेजत्' कहते हैं, क्योंकि 'एजृ कम्पने' [इस धातुसूत्रसे] 'एज्' धातुका अर्थ कम्पन है । इस प्रकार [वह आत्मतत्त्व] कम्पन—चलन अर्थात् अपनी अवस्थासे च्युत होनेसे रहित है यानी सदा एक रूप है । वह एक ही सब प्राणियोंमें वर्तमान है । तथा सङ्कल्पादिरूप मनसे भी जवीय—अधिक वेगवान् है ।

कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च ।

नैष दोषः । निरुपाध्युपाधि-
विरोध-परिहारः मत्त्वेनोपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते अनेजदेकमिति । मनसोऽन्तःकरणस्य सङ्कल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्त्तनाद् इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह ।

नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं

पूर्व०—यह विरुद्ध बात कैसे कही जाती है कि वह आत्मतत्त्व ध्रुव एवं निश्चल है तथा मनसे भी अधिक वेगवान् है ?

सिद्धान्ती—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक और सोपाधिकरूपसे यह विरुद्ध कथन भी बन सकता है। उस अवस्थामें अपने निरुपाधिकरूपसे तो 'अविचल' और 'एक'—ऐसा कहा जाता है तथा अन्तःकरणकी मनरूप संकल्प-विकल्पात्मिका उपाधिका अनुवर्तन करनेके कारण [मनसे भी अधिक वेगवान् कहा गया है] इस लोकमें देहस्थ मनका ब्रह्मलोक आदि दूर देशोंमें संकल्परूपसे एक क्षणमें ही गमन हो जाता है; अतः मनका अत्यन्त वेगतत्त्व तो लोकमें प्रसिद्ध ही है। किन्तु उस मनके ब्रह्मलोकादिमें बड़ी शीघ्रतासे पहुँचनेपर वहाँ आत्मचैतन्यका अवभास पहलेहीसे पहुँचा हुआ-सा अनुभव किया जाता है। इसीसे 'वह मनसे भी अधिक वेगवान् है' ऐसा श्रुति कहती है।

जिसका प्रकरण चल रहा है ऐसे इस आत्मतत्त्वको देवगण भी प्राप्त अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सके।

नाप्नुवन्न प्राप्तवन्तः । तेभ्यो मनो जवीयः । मनोव्यापारव्यवहितत्वाद् आभासमात्रमपि आत्मनो नैव देवानां विषयीभवति ।

यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत् पूर्वमेव गतं व्योमवद्व्यापित्वात् सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीत्यविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह ।

तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छति इव । इवार्थं स्वयमेव दर्शयति तिष्ठदिति; स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः ।

विषयोंका द्योतन (प्रकाश) करनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही 'देव' हैं । उन इन्द्रियोंसे तो मन ही वेगवान् है; अतः [आत्मा तथा इन्द्रियोंके बीचमें] मनोव्यापारका व्यवधान रहनेके कारण आत्माका तो आभासमात्र भी इन्द्रियोंका विषय नहीं होता ।

क्योंकि आकाशके समान व्यापक होनेके कारण वह वेगवान् मनसे भी पहले ही गया हुआ है । वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक स्वरूपसे सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित तथा अविक्रिय होकर ही उपाधिकृत सम्पूर्ण सांसारिक विकारोंको अनुभव करता है और अविवेकी मूढ़ पुरुषोंको प्रत्येक शरीरमें अनेक-सा प्रतीत होता है इसीसे श्रुतिने ऐसा कहा है ।

वह दौड़ते अर्थात् तेजीसे चलते हुए, आत्मासे भिन्न अन्य मन, वाणी और इन्द्रिय आदिका अतिक्रमण कर जाता है—मानो उन्हें पार करके चला जाता है । 'इव' का भावार्थ श्रुति 'तिष्ठत्' (ठहरनेवाला) इस पदसे स्वयं ही दिखला रही है । अर्थात् स्वयं अविकारी रहकर ही दूसरोंको पार कर जाता है ।

तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा, अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः ।

उस नित्यचैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वके वर्तमान रहते हुए ही, जो मातरि अर्थात् अन्तरिक्षमें सञ्चार–गमन करता है वह मातरिश्वा–वायु, जो समस्त प्राणोंका पोषक और क्रियारूप है, जिसके अधीन ये सारे शरीर और इन्द्रिय हैं तथा जिसमें ये सब ओतप्रोत हैं और जो सूत्रसंज्ञक तत्त्व निखिल जगत्का विधाता है वह मातरिश्वा अप् अर्थात् प्राणियों-के चेष्टारूप कर्म यानी अग्नि, सूर्य और मेघ आदिके ज्वलन-दहन, प्रकाशन एवं वर्षारम्भादि कर्म विभक्त करता है । ऐसा इसका भावार्थ है ।

धारयतीति वा । "भीषास्माद्वातः पवते" (तै० उ० २ । ८ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वा हि कार्यकरणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथवा "इसके भयसे वायु चलता है" इत्यादि [भाववाली] श्रुतियोंके अनुसार 'दधाति'का अर्थ 'धारण करता है' ऐसा जानो । क्योंकि शरीर और इन्द्रिय आदि सभी विकार सबके अधिष्ठानस्वरूप नित्य-चैतन्य आत्मतत्त्वके विद्यमान रहते ही होते हैं ॥ ४ ॥

न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—

मन्त्रोंको आलस नहीं होता; अतः पहले मन्त्रद्वारा कहे हुए अर्थको ही फिर कहते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता । वह दूर है और समीप भी है । वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है ॥ ५ ॥

तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः । किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वात् दूर इव । तद् उ अन्तिके इतिच्छेदः । तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च । तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य । "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३ । ४ । १) इति श्रुतेः । अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः । "प्रज्ञानघन एव" (बृ० उ० ४ । ५ । १३) इति च शासनान्निरन्तरं च ॥ ५ ॥

जिसका प्रकरण है वह आत्मतत्त्व एजन करता—चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता, अर्थात् स्वयं अचल रहकर ही चलता हुआ-सा जान पड़ता है । यही नहीं, वह दूर भी है; अज्ञानियोंको सैकड़ों करोड़ वर्षोंमें भी अप्राप्य होनेके कारण दूर-जैसा है । ['तद्वन्तिके'का] तत् उ अन्तिके—ऐसा पदच्छेद करना चाहिये । वही अन्तिक–अत्यन्त समीप भी है अर्थात् केवल दूर ही नहीं, विद्वानोंका आत्मा होनेके कारण समीप भी है । वह इस सबके अन्तर यानी भीतर भी है, जैसा कि "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है । आकाशके समान व्यापक होनेके कारण वह इस नामरूप और क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत्के बाहर तथा सूक्ष्मरूप होनेसे इसके भीतर भी है । और श्रुतिके "प्रज्ञानघन ही है" इस कथनके अनुसार वह निरन्तर (बाहर-भीतरके भेदको त्यागकर सर्वत्र) ही है ॥ ५ ॥

अभेददर्शीकी स्थिति

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

जो [साधक] सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें भी आत्माको ही देखता है वह इस [सार्वात्म्यदर्शन] के कारण ही किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषाम् अपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्यकरणसङ्घातस्यात्मा अहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति ।

जो परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है अर्थात् उन्हें आत्मासे पृथक् नहीं देखता, तथा उन सम्पूर्ण भूतोंमें भी आत्माको देखता है अर्थात् उन भूतोंके आत्माको भी अपना ही आत्मा जानता है यानी यह समझता है कि जिस प्रकार मैं इस देहके कार्य (भूत) और कारण (इन्द्रिय)-संघातका आत्मा और इसकी समस्त प्रतीतियोंका साक्षी, चेतयिता, केवल और निर्गुण हूँ उसी प्रकार अपने इसी रूपसे अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जो सब भूतोंमें अपने निर्विशेष आत्मस्वरूपको ही देखता है वह उस आत्मदर्शनके कारण ही किसीसे जुगुप्सा यानी घृणा नहीं करता ।

प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम् । सर्वा हि घृणात्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तम् अर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव । ततो न विजुगुप्सत इति ॥ ६ ॥

यह प्राप्त वस्तुका ही अनुवाद है। सभी प्रकारकी घृणा अपनेसे भिन्न किसी दूषित पदार्थको देखनेवाले पुरुषको ही होती है, जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूपको ही देखनेवाला है उसकी दृष्टिमें घृणाका निमित्तभूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं; यह बात स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वह किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—

इसी बातको दूसरा मन्त्र भी कहता है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

जिस समय ज्ञानी पुरुषके लिये सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान्को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ? ॥ ७ ॥

यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद् आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः तत्र तस्मिन्काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः ।

जिस समय अथवा जिस पूर्वोक्त आत्मस्वरूपमें परमार्थतत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें वे ही सब भूत परमार्थ आत्मस्वरूपके दर्शनसे आत्मा ही हो गये, अर्थात् आत्मभावको ही प्राप्त हो गये, उस समय अथवा उस आत्मामें क्या मोह और क्या शोक रह सकता है ?

शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अजानतो भवति । न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः ।

को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥ ७ ॥

शोक और मोह तो कामना और कर्मके बीजको न जाननेवालेको ही हुआ करते हैं, जो आकाशके समान आत्माका विशुद्ध एकत्व देखनेवाला है उसको नहीं होते ।

'क्या मोह और क्या शोक ?' इस प्रकार अविद्याके कार्यस्वरूप शोक और मोहकी आक्षेपरूपसे असम्भवता दिखलाकर कारणसहित संसारका अत्यन्त ही उच्छेद प्रदर्शित किया गया है ॥ ७ ॥

आत्मनिरूपण

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः—

उपर्युक्त मन्त्रोंसे जिस आत्माका वर्णन किया गया है वह अपने स्वरूपसे कैसे लक्षणोंवाला है इस बातको यह मन्त्र बतलाता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुसे रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू (स्वयं ही होनेवाला) है । उसीने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियोंके लिये यथायोग्य रीतिसे अर्थों (कर्त्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है ॥ ८ ॥

स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद्गतवानाकाशवद्व्यापी इत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणम् अक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम् ।

शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुँल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि । स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुँल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात् ।

कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् । "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ० उ०

वह पूर्वोक्त आत्मा पर्यगात्, परि—सब ओर अगात्—गया हुआ है अर्थात् आकाशके समान सर्वव्यापक है, शुक्र—शुद्ध—ज्योतिष्मान् यानी दीप्तिवाला है; अकाय—अशरीरी अर्थात् लिंग शरीरसे रहित है; अव्रण यानी अक्षत है; अस्नाविर है, जिसमें स्नायु अर्थात् शिराएँ न हों उसे अस्नाविर कहते हैं । अव्रण और अस्नाविर इन दो विशेषणोंसे स्थूल शरीरका प्रतिषेध किया गया है । तथा शुद्ध, निर्मल यानी अविद्यारूप मलसे रहित है—इससे कारण शरीरका प्रतिषेध किया गया है । अपापविद्ध—धर्म-अधर्मरूप पापसे रहित है ।

'शुक्रम्' इत्यादि (नपुंसकलिङ्ग) वचनोंको पुँल्लिङ्गमें परिणत कर लेना चाहिये, क्योंकि 'स पर्यगात्' इस पदसे आरम्भ करके 'कविः मनीषी' आदि शब्दोंद्वारा पुँल्लिङ्गरूपसे ही उपसंहार किया है ।

कवि—क्रान्तदर्शी* यानी सर्वदृक् है। जैसा कि श्रुति कहती है—"इससे

---

* क्रान्तका अर्थ अतीत है, अतः क्रान्तदर्शीका अर्थ अतीतद्रष्टा हुआ । यहाँ अतीतकालको तीनों कालोंका उपलक्षण मानकर भाष्यकारने क्रान्तदर्शीका अर्थ सर्वदृक् अर्थात् सर्वद्रष्टा किया है ।

३ । ८ । ११) इत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः । स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति । येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः ।

स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद् यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधाद्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः; शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्य कोई और द्रष्टा नहीं है।" मनीषी–मनका ईशन करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर। परिभू–सबके परि अर्थात् ऊपर है इसलिये परिभू है। स्वयम्भू—स्वयं ही होता है [इसलिये स्वयम्भू है] । अथवा जिनके ऊपर है और जो ऊपर है वह सब स्वयं ही है, इसलिये स्वयम्भू है।

उस नित्यमुक्त ईश्वरने सर्वज्ञ होनेके कारण यथाभूत कर्म, फल और साधनके अनुसार अर्थों—कर्त्तव्य-पदार्थोंका याथातथ्य विधान किया अर्थात् यथायोग्य रीतिसे उनका विभाग किया। यथा-तथाके भावको याथातथ्य कहते हैं। [उसने] शाश्वत–नित्य समाओं अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियोंको [उनकी योग्यताके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्तव्य बाँट दिये] ॥ ८ ॥

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः "ईशा वास्यमिदं सर्वं ··· मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इति ।

यहाँ "ईशा वास्यमिदं सर्वं ··· मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इस प्रथम मन्त्र-द्वारा सम्पूर्ण एषणाओंके त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया है; यही वेदका प्रथम अर्थ है। तथा जो

अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि ···· जिजीविषेत्" इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः ।

अज्ञानां कर्मनिष्ठा

अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति । "मन एवास्यात्मा वाग्जाया" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इत्यादिवचनाद् अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानम् ।

ज्ञानिनां सांख्यनिष्ठा

जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन च आत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता "किं प्रजया

अज्ञानी और जीवित रहनेकी इच्छावाले हैं उनके लिये ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होनेपर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि···· जिजीविषेत्" इत्यादि मन्त्रसे कर्मनिष्ठा कही है। यह दूसरा वेदार्थ है।

उपर्युक्त मन्त्रोंद्वारा दिखलाया हुआ इन निष्ठाओंका विभाग बृहदारण्यकमें भी दिखाया है। "उसने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो" इत्यादि वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि कर्म अज्ञानी और सकाम पुरुषके लिये ही हैं। "मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है" इत्यादि वचनसे भी कर्मनिष्ठका अज्ञानी और सकाम होना तो निश्चितरूपसे जाना जाता है। तथा उसीका फल सप्तान्न सर्ग* है। उनमें आत्मभावना करनेसे ही आत्माकी [अनात्मरूपसे] स्थिति है।

आत्मज्ञानियोंके लिये तो वहाँ (बृहदारण्यकोपनिषद्में) "जिन हमको यह आत्मलोक ही सम्पादन करना है वे हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे" इत्यादि वाक्यसे जायादि†

* व्रीहि-यवादि—ये मनुष्यके अन्न हैं, हुत-प्रहुत—ये दोनों देवताओंके अन्न हैं, मन, वाणी और प्राण—ये आत्माके अन्न हैं तथा दुग्ध पशुओंका अन्न है। यह सात प्रकारके अन्नकी सृष्टि कर्मका ही फल है।

† यहाँ 'जाया' (स्त्री) शब्दसे 'पुत्र' उपलक्षित होता है; अतः 'जायादि-एषणा' का तात्पर्य 'पुत्रादि-एषणात्रय' समझना चाहिये।

करिष्यामो येषान्नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिना। ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिना अविद्वन्निन्दाद्वारेण आत्मनो याथात्म्यं स पर्यगात् इत्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि—"अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्" (श्वे० उ० ६ । २१) इत्यादि विभज्योक्तम् ।

ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—

तीन एषणाओंके त्यागपूर्वक कर्मनिष्ठाके विरुद्ध आत्म-स्वरूपमें स्थित रहना ही दिखलाया है। जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं उन्हें ही 'असुर्या नाम ते लोकाः' यहाँसे लेकर 'स पर्यगात्' इत्यादितकके मन्त्रोंसे अज्ञानीकी निन्दा करते हुए आत्माके यथार्थ स्वरूपका उपदेश किया है। इस आत्मनिष्ठामें उन्हींका अधिकार है, सकाम पुरुषोंका नहीं। इसी प्रकार श्वेताश्वतर-मन्त्रोपनिषद्में भी "ऋषिसमूहसे भली प्रकार सेवित इस परम पवित्र आत्मज्ञानका उत्तम (संन्यास) आश्रमवालोंको उपदेश किया" इत्यादि रूपसे इसका पृथक् उपदेश किया है।

जो कर्मनिष्ठ कर्मठ लोग कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहते हैं उनसे यह कहा जाता है—

कर्म और उपासनाका समुच्चय

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥ ९ ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे [अविद्यारूप] घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषाम् इति ।

उच्यते—अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति यदात्मैकत्वविज्ञानम् [उक्तम्] तन्न केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति । इह तु समुच्चिचीषया अविद्वदादिनिन्दा क्रियते । तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इति पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानकर्मणोरिह एकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैव

पूर्व०—यह कैसे ज्ञात होता है कि [यह विधि कर्मनिष्ठोंके ही लिये है] सबके लिये नहीं है ?

सिद्धान्ती—बतलाते हैं, [सुनो] निष्काम पुरुषके लिये जो 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इस मन्त्रसे साध्य और साधनके भेदका निराकरण करते हुए आत्माके एकत्वका ज्ञान प्रतिपादन किया है, उसे कोई भी विचारवान् किसी भी कर्म या अन्य ज्ञानके साथ मिलाना नहीं चाहेगा । यहाँ तो समुच्चयकी इच्छासे ही अविद्वान् आदिकी निन्दा की है । अतः न्याय और शास्त्रके अनुसार जिसका जिसके साथ समुच्चय हो सकता है वही यहाँ कहा गया है । सो कर्मके सम्बन्धीरूपसे यहाँ दैव वित्त अर्थात् देवतासम्बन्धी ज्ञानका ही उल्लेख हुआ है—परमात्मज्ञानका नहीं, क्योंकि "विद्यासे देवलोक प्राप्त होता है" ऐसा [इस ज्ञानका आत्मज्ञानसे] पृथक् फल सुना गया है । उन ज्ञान और कर्ममेंसे, यहाँ जो एक-एकके अनुष्ठानकी निन्दा की है वह समुच्चयके अभिप्रायसे है, निन्दाके

एकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्; "विद्यया तदारोहन्ति" "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इति। न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात् ।

ही लिये नहीं; क्योंकि "उस पदपर विद्या (देवताज्ञान) से आरूढ़ होते हैं" "विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है" "वहाँ दक्षिणमार्गसे जानेवाले नहीं पहुँचते" "कर्मसे पितृलोक मिलता है" इत्यादि एक-एकका पृथक् फल बतलानेवाली श्रुतियाँ भी मिलती हैं; और शास्त्रविहित कोई भी बात अकर्तव्य नहीं हो सकती ।

तत्र अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के ? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः । ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति, के ? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रताः अभिरताः । तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह;

उनमें वे तो अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । कौन ? जो अविद्या—विद्यासे अन्य अविद्या अर्थात् कर्म यानी केवल अग्निहोत्रादिरूप अविद्याहीकी उपासना करते हैं, अर्थात् तत्पर होकर कर्मका ही अनुष्ठान करते रहते हैं, क्योंकि कर्म विद्या (आत्मज्ञान) के विरोधी हैं [इसलिये उन्हें अविद्या कहा गया है] । तथा उस अन्धकारसे भी कहीं अधिक अन्धकारमें वे प्रवेश करते हैं, कौन ? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या यानी देवताज्ञानमें ही रत—अनुरक्त हैं । विद्या और कर्मके अवान्तर फल-भेदको ही इसके समुच्चयका कारण बतलाते हैं;

अन्यथा फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्याद् इत्यर्थः ॥ ९ ॥

नहीं तो एक-दूसरेके समीप हुए फलयुक्त और फलहीन परस्पर अंग और अंगी हो जायँगे [अर्थात् फलयुक्त तो अंगी (मुख्य) हो जायगा तथा फलहीन अंग (गौण) समझा जायगा] यही इसका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

कर्म और उपासनाके समुच्चयका फल

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

विद्या (देवताज्ञान) से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या (कर्म) से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥ १० ॥

अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) "विद्यया तदारोहन्ति" इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते "कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥ १० ॥

"विद्यासे देवलोक प्राप्त होता है" "विद्यासे उसपर आरूढ़ होते हैं" ऐसी श्रुतियोंके अनुसार, वेदवेत्तालोग कहते हैं कि विद्यासे और ही फल मिलता है। तथा "कर्मसे पितृलोक मिलता है" इस श्रुतिके अनुसार, अविद्या यानी कर्मसे और ही फल होता है—ऐसा उनका कथन है। ऐसे हमने धीर अर्थात् बुद्धिमानोंके वचन सुने हैं, जिन आचार्योंने हमसे उस कर्म तथा ज्ञानका विख्यान किया था अर्थात् उनकी व्याख्या की थी। तात्पर्य यह है कि यह उनका परम्परागत आगम है ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

जो विद्या और अविद्या—इन दोनोंको ही एक साथ जानता है वह अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥११॥

एत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एक पुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये विद्या और अविद्या अर्थात् देवताज्ञान और कर्म इन दोनोंको जो एक साथ एक ही पुरुषसे अनुष्ठान किये जानेयोग्य जानता है इस प्रकार समुच्चय करनेवालेको ही एक पुरुषार्थका सम्बन्ध क्रमशः होता है यही अब कहा जाता है ।

अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥ ११ ॥

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मसे मृत्यु यानी 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको तरकर—पार करके विद्या अर्थात् देवताज्ञानसे अमृत यानी देवतात्मभावको प्राप्त हो जाता है । देवत्वभावको जो प्राप्त होना है वही अमृत कहा जाता है ॥११॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासनाका समुच्चय

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते ।

अब व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओंका समुच्चय करनेकी इच्छासे प्रत्येककी निन्दा की जाती है ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (कार्यब्रह्म) में रत हैं वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥१२॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या तामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीज-भूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति । ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है वह जिसके कार्यका धर्म है उसे 'सम्भूति' कहते हैं । उससे अन्य असम्भूति—प्रकृति—कारण अथवा अव्याकृत नामकी अविद्या है । उस असम्भूति यानी अव्याकृत नामवाली प्रकृति—कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्या-की, जो कि कामना और कर्मकी बीज है, जो लोग उपासना करते हैं वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । तथा जो सम्भूति यानी हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्ममें रत हैं वे तो उससे भी गहरे—मानो अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥१२॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासनाके फल

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—

अब, उन दोनों उपासनाओंके समुच्चयका कारणरूप जो उन दोनोंके फलोंका भेद है उसका वर्णन किया जाता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

कार्यब्रह्मकी उपासनासे और ही फल बतलाया गया है; तथा अव्यक्तोपासनासे और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमानोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१३॥

अन्यदेव पृथगेवाहुः फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुः असम्भवादसम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात्। यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्मकी उपासनासे प्राप्त होनेवाला अणिमादि ऐश्वर्यरूप और ही फल बतलाया अर्थात् बखान किया है। तथा असम्भूति यानी अव्याकृतसे अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनासे और ही फल बतलाया है; जिसे पहले 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' आदि वाक्यसे कह चुके हैं तथा पौराणिक लोग जिसे प्रकृतिलय कहते हैं—ऐसा हमने धीरों (बुद्धिमानों) का कथन सुना है, जिन्होंने हमसे उनका वर्णन किया था अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओंके फलका व्याख्यान किया था ॥ १३ ॥

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एवैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—

क्योंकि ऐसा है, इसलिये सम्भूति और असम्भूतिकी उपासनाओंका समुच्चय उचित ही है। इसके सिवा एक पुरुषार्थमूलक होनेसे भी उनका समुच्चय होना ठीक है—यही आगे कहते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

जो असम्भूति और कार्यब्रह्म—इन दोनोंको साथ-साथ जानता है वह कार्यब्रह्मकी उपासनासे मृत्युको पार करके असम्भूतिके द्वारा [प्रकृतिलयरूप] अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति, तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा—हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य—असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते।

जो पुरुष असम्भूति और विनाश इन दोनोंकी उपासनाके समुच्चयको जानता है वह—जिसके कार्यका धर्म विनाश है और उस धर्मीसे अभेद होनेके कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है—उस विनाशसे अर्थात् उसकी उपासनासे अधर्म तथा कामना आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके—हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल ही मिलता है, अतः उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके—असम्भूति—अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है।

सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पद-समूहमें प्रकृतिलयरूप फल बतलानेवाली श्रुतिके अनुरोधसे अवर्णके लोपपूर्वक निर्देश हुआ समझना चाहिये* ॥ १४ ॥

उपासककी मार्गयाचना

भोगमोक्ष-विवेकः

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम्। एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम्। एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्।

शास्त्रके बतलाये हुए प्रकृतिलय-पर्यन्त समस्त फल [गौ, भूमि और सुवर्ण आदि] मानुष सम्पत्ति तथा [देवताज्ञानरूप] दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न होनेवाले हैं। यहाँतक संसारकी गति है। इससे आगे पहले 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इस (सातवें मन्त्र) में बतलाया हुआ सम्पूर्ण एषणाओंके त्यागरूप संन्यासका फल सर्वात्मभाव ही है। इस प्रकार यहाँ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप दो प्रकारका वेदार्थ प्रकाशित किया है उनमें विधि-प्रतिषेधरूप सम्पूर्ण प्रवृत्तिलक्षण वेदार्थका प्रकाश करनेमें प्रवर्ग्यपर्यन्त ब्राह्मण-भाग उपयोगी है। तथा निवृत्ति-लक्षण वेदार्थको अभिव्यक्त करनेमें इससे आगे बृहदारण्यकका उपयोग किया जाता है।

* अर्थात् 'असम्भूति' को ही 'सम्भूति' कहा है—ऐसा जानना चाहिये।

तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति ।

उनमें जो पुरुष गर्भाधानसे लेकर मरणपर्यन्त कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहता है उसे अपरब्रह्म-विषयक विद्याके साथ ही [जीवित रहना चाहिये] जैसा कि कहा है—'विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानता है वह अविद्या (कर्म) से मृत्युको पार करके विद्या (देवता-ज्ञान) से अमृत प्राप्त कर लेता है ।'

देवयानमार्ग-याचनम्

तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते । तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष एतदुभयꣳ सत्यम् । ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते 'हिरण्मयेन पात्रेण०' इति ।

वह किस मार्गसे अमृतत्व प्राप्त करता है ? सो बतलाते हैं । वह जो सत्य है वही यह आदित्य है, जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है तथा जो पुरुष दक्षिणनेत्रमें है वे दोनों ही सत्य हैं । जो उस ब्रह्मकी उपासना करनेवाला और शास्त्रोक्त कर्म करनेवाला है वह अन्तकाल उपस्थित होनेपर [इस आदित्यमण्डलस्थ] आत्मासे 'हिरण्मयेन पात्रेण०' इस मन्त्रके द्वारा इस प्रकार आत्मप्राप्तिके द्वारकी याचना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्मका मुख ज्योतिर्मय पात्रसे ढका हुआ है । हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्माको आत्माकी उपलब्धि करानेके लिये तू उसे उघाड़ दे ॥ १५ ॥

[हि]रण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत् । तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम् । तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यस्य उपासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

जो सोनेका-सा हो उसे 'हिरण्मय' कहते हैं, अर्थात् जो ज्योतिर्मय है उस ढकनेरूप पात्रसे ही आदित्य-मण्डलमें स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्मका मुख—द्वार छिपा हुआ है। हे पूषन्! सत्यकी उपासना करनेके कारण जिसका सत्य ही धर्म है ऐसा मैं सत्यधर्मा हूँ उस मेरे प्रति अथवा यथार्थ धर्मका अनुष्ठान करनेवाले मेरे प्रति दृष्टि अर्थात् अपने सत्यस्वरूपकी उपलब्धिके लिये तू उसे उघाड़ दे—[उस पात्रको] सामनेसे हटा दे॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

हे जगत्पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करनेवाले ! हे यम (संसारका नियमन करनेवाले) ! हे सूर्य (प्राण और रसका शोषण करनेवाले) ! हे प्रजापतिनन्दन ! तू अपनी किरणोंको हटा ले (अपने तेजको समेट ले)। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ ॥ १६ ॥

हे पूषन्! जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः—हे एकर्षे ! तथा

हे पूषन् ! जगत्का पोषण करनेके कारण सूर्य पूषा है। वह अकेला ही चलता है इसलिये एकर्षि है—हे एकर्षे !

सर्वस्य संयमनाद्यमः—हे यम ! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्यः—हे सूर्य ! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः—हे प्राजापत्य ! व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान् । समूह एकीकुरु उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः ।

सबका नियमन करनेके कारण यम है—हे यम ! किरण प्राण और रसोंको स्वीकार करनेके कारण सूर्य है—हे सूर्य ! प्रजापतिका पुत्र होनेसे प्राजापत्य है—हे प्राजापत्य ! अपनी किरणोंको दूर कर। अपने तेज यानी सन्तप्त करनेवाली ज्योतिको पुञ्जीभूत एकत्रित अर्थात् शान्त कर।

यत्ते तव रूपं कल्याणतमम् अत्यन्तशोभनं तत्ते तवात्मनः प्रसादात् पश्यामि । किञ्चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि ॥१६॥

तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय अर्थात् परम सुन्दर स्वरूप है उसे तुझ आत्माकी कृपासे मैं देखता हूँ। तथा यह बात मैं तुझसे सेवकके समान याचना नहीं करता, क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गोंवाला[1] आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है—जो पुरुषाकार होनेसे, अथवा जो प्राण और बुद्धिरूपसे समस्त जगत्को पूर्ण किये हुए है या जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है—वह मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

मरणोन्मुख उपासककी प्रार्थना

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥१७॥

१—'तस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू सुवरिति प्रतिष्ठा' (बृ० उ० ५।५।३) अर्थात् उसका 'भूः' यह शिर है, 'भुवः' यह भुजाएँ हैं तथा 'सुवः' यह प्रतिष्ठा (चरण) हैं।

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्माको प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुएको स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुएको स्मरण कर ॥ १७ ॥

अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्, मार्गयाचनसामर्थ्यात्। अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्।

ओमिति यथोपासनम् ॐप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ १७ ॥

अब मुझ मरनेवालेका वायु—प्राण अपने अध्यात्मपरिच्छेदको त्यागकर अधिदैवरूप सर्वात्मक वायुरूप अमृत यानी सूत्रात्माको प्राप्त हो—इस प्रकार इस वाक्यमें 'प्रतिपद्यताम्' यह क्रियापद जोड़ लेना चाहिये। यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान और कर्मके संस्कारोंसे युक्त यह लिंग देह उत्क्रमण करे, क्योंकि [इस श्रुतिसे] मार्गकी याचना की गयी है। तथा अब यह शरीर अग्निमें होम कर दिये जानेपर भस्मशेष हो जाय।

'ॐ' ऐसा कहकर यहाँ उपासनाके अनुसार सत्यस्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूपसे कहा गया है, क्योंकि 'ॐ' उसका प्रतीक है। हे क्रतो!—संकल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है उसका स्मरण कर; अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर' यहाँ ['स्मर' पदकी] पुनरुक्ति आदरके लिये है ॥ १७ ॥

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—

पुनः दूसरे मन्त्रसे मार्गकी याचना करता है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्ने! हमें कर्मफलभोगके लिये सन्मार्गसे ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान और कर्मोंको जाननेवाला है। हमारे पाषण्डपूर्ण पापोंको नष्ट कर। हम तेरे लिये अनेकों नमस्कार करते हैं ॥ १८ ॥

हे अग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्जानन्।

हे अग्ने! मुझे सुपथ अर्थात् सुन्दर मार्गसे ले चल। यहाँ 'सुपथा' यह विशेषण दक्षिणमार्गकी निवृत्तिके लिये है। मैं आवागमनरूप दक्षिण-मार्गसे ऊब गया हूँ, अतः तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि यथोक्त कर्मफल-विशिष्ट हमलोगोंको हमारे सम्पूर्ण कर्म अथवा ज्ञानोंको जाननेवाले हे देव! तू 'राये'—धनके लिये अर्थात् कर्मफल-भोगके निमित्त पुनः-पुनः आने-जानेसे रहित शुभमार्गसे ले चल।

किञ्च युयोधि वियोजय विनाशय अस्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु

तथा तू हमसे कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापोंको 'युयोधि'—वियुक्त कर दे यानी उनका नाश कर दे। तब हम विशुद्ध होकर अपना इष्ट प्राप्त कर लेंगे—यह इसका अभिप्राय है। किन्तु इस समय हम

वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम् । भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नमउक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः ।

तेरी परिचर्या (सेवा) करनेमें समर्थ नहीं हैं । अतः हम तेरे लिये बहुत-सी नमः-उक्ति यानी नमस्कार-वचन विधान करते हैं अर्थात् नमस्कारसे ही तेरी परिचर्या करते हैं ।

ग्रन्थार्थ-विवेचन

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।' (ई० उ० ११) 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते' (ई० उ० १४) इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति । अतस्तन्निराकरणार्थं सङ्क्षेपतो विचारणां करिष्यामः ।

'अविद्या (कर्म) से मृत्युको पारकर विद्या (देवता-ज्ञान) से अमृत प्राप्त करता है' 'विनाश (कार्यब्रह्मकी उपासना) से मृत्युको पारकर असम्भूति (अव्यक्तकी उपासना) से अमृत लाभ करता है' ऐसा सुनकर कुछ लोगोंको संशय हो जाता है । अतः उसकी निवृत्तिके लिये हम संक्षेपसे विचार करते हैं ।

तत्र तावत्किन्निमित्तः संशय इत्युच्यते—

अच्छा तो, यहाँ किस निमित्तको लेकर संशय होता है ? इसपर कहते हैं—

विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वञ्च ।

पूर्व०—यहाँ 'विद्या' शब्दसे मुख्य परमार्थविद्या तथा 'अमृत' शब्दसे अमृतत्व ही क्यों नहीं लिया जाता ?

ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—ऊपर बतलायी हुई परमार्थविद्या और कर्मका परस्पर विरोध होनेके कारण उनका समुच्चय नहीं हो सकता ।

सत्यम् । विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात् । यथाविद्यानुष्ठानं विद्योपासनञ्च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि । यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति । एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात् । विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः ।

न "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या" (क० उ० १ । २ । ४) इति श्रुतेः ।

विद्यां चाविद्यां चेति वचनादविरोध इति चेत् ?

न; हेतुस्वरूपफलविरोधात् ।

विद्याविद्याविरोधाविरोधयो-

पूर्व०—ठीक है, परन्तु इनका विरोध या अविरोध तो शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो सकता है; अतः [यहाँ शास्त्र-विधि होनेके कारण] इनका विरोध नहीं जान पड़ता । जिस प्रकार अविद्याका अनुष्ठान और विद्याकी उपासना शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध हैं उसी प्रकार उनके विरोध और अविरोध भी हैं । जैसे 'सभी प्राणियोंकी हिंसा न करे' यह बात शास्त्रसे जानी जाती है और फिर 'यज्ञमें पशुकी हिंसा करे' इस शास्त्र-विधिसे ही बाधित भी हो जाती है वैसे ही विद्या और अविद्याके सम्बन्धमें भी हो सकता है । और इस प्रकार विद्या तथा कर्मका समुच्चय हो जायगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि "जिनकी गति भिन्न-भिन्न हैं वे विद्या और कर्म सर्वथा विपरीत हैं ।"

पूर्व०—'किन्तु विद्यां चाविद्यां च' इस वाक्यके अनुसार इन दोनोंका अविरोध है न ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनके हेतु, स्वरूप और फलोंमें विरोध है ।

पूर्व०—विद्या और अविद्या तथा

विकल्पासम्भवात्समुच्चयविधाना-

दविरोध एवेति चेत् ?

न; सहसम्भवानुपपत्तेः ।

क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्या-

विद्ये इति चेत् ?

न; विद्योत्पत्तौ अविद्याया

ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः । न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये । तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा

विरोध और अविरोध इनमें विकल्प तो हो नहीं सकता* तथा इनके समुच्चयका विधान किया गया है, इसलिये इनका अविरोध ही है—ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इन दोनोंका साथ रहना सम्भव नहीं है।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि विद्या और अविद्या क्रमसे एक आश्रयमें रहनेवाली हैं, तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि विद्याके उत्पन्न हो जानेपर अविद्याका नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रयमें अविद्याकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । 'अग्नि उष्ण और प्रकाशस्वरूप है' इस ज्ञानके उत्पन्न होनेपर जिस [अग्निरूप] आश्रयमें यह उत्पन्न हुआ है उसीमें अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है—ऐसा अज्ञान नहीं हो सकता; अधिक क्या इस विषयमें उस पुरुषको कोई सन्देह अथवा भ्रम भी नहीं हो

* क्योंकि विद्या-अविद्या तथा विरोध-अविरोध ये सिद्ध वस्तुएँ हैं । जो बात पुरुषके अधीन होती है अर्थात् जिसे पुरुष कर सकता है उसीमें विकल्प भी हो सकता है । जैसे 'सूर्योदयके अनन्तर हवन करे'—इस विधिमें यह विकल्प हो सकता है कि सूर्योदयसे पहले करे या पीछे; परन्तु 'सूर्य है' इस बातमें सूर्य है या नहीं—ऐसा कोई विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यका होना या न होना किसी पुरुषविशेषके अधीन नहीं है ।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः । अविद्यासम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिम् अवोचाम ।

अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकम् अमृतम् । विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथास्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥ १८ ॥

सकता । ज्ञानीके लिये शोक-मोहादिका असम्भव बतलानेवाली "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । इस प्रकार अविद्याके असम्भव हो जानेपर उसके आश्रयसे होनेवाले कर्म भी नहीं हो सकते—यह बात हम पहले ही कह चुके हैं ।

यहाँ जो कहा गया है कि अमृतको प्राप्त होता है सो आपेक्षिक अमृत समझना चाहिये । यदि 'विद्या' शब्दसे परमात्म-विद्या ली जाय तो 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्रोंसे मार्गादिकी याचना नहीं बन सकती । इसलिये यहाँ उपासनाके साथ ही [कर्मका] समुच्चय किया गया है, परमात्मज्ञानके साथ नहीं । इस प्रकार इन मन्त्रोंका वही अर्थ है जैसा कि हमने व्याख्यान किया है । ऐसा कहकर हम विराम लेते हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतावीशावास्योपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम् ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्तिरीयोपनिषद्

नुवाद शाङ्करभाष्यसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३ प्रथम संस्करण ३२५०
सं० १९९५ द्वितीय संस्करण ३०००

मूल्य ।।।-) तेरह आना

निवेदन

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यकके प्रपाठक ७, ८ और ९ का नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है। इनमें सप्तम प्रपाठक, जिसे तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्ली कहते हैं, सांहिती उपनिषद् कही जाती है और अष्टम तथा नवम प्रपाठक, जो इस उपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली हैं, वारुणी उपनिषद् कहलाती हैं। इनके आगे जो दशम प्रपाठक है उसे नारायणोपनिषद् कहते हैं, वह याज्ञिकी उपनिषद् है। इनमें महत्त्वकी दृष्टिसे वारुणी उपनिषद् प्रधान है; उसमें विशुद्ध ब्रह्मविद्याका ही निरूपण किया गया है। किन्तु उसकी उपलब्धिके लिये चित्तकी एकाग्रता एवं गुरुकृपाकी आवश्यकता है। इसके लिये शीक्षावल्लीमें कई प्रकारकी उपासना तथा शिष्य एवं आचार्यसम्बन्धी शिष्टाचारका निरूपण किया गया है। अतः औपनिषद सिद्धान्तको हृदयंगम करनेके लिये पहले शीक्षावल्ल्युक्त उपासनादिका ही आश्रय लेना चाहिये। इसके आगे ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्लीमें जिस ब्रह्मविद्याका निरूपण है उसके सम्प्रदायप्रवर्तक वरुण हैं; इसलिये वे दोनों वल्लियाँ वारुणी विद्या अथवा वारुणी उपनिषद् कहलाती हैं।

इस उपनिषद्पर भगवान् शङ्कराचार्यने जो भाष्य लिखा है वह बहुत ही विचारपूर्ण और युक्तियुक्त है। उसके आरम्भमें ग्रन्थका

उपोद्घात करते हुए भगवान्‌ने यह बतलाया है कि मोक्षरूप परम-निःश्रेयसकी प्राप्तिका एकमात्र हेतु ज्ञान ही है। इसके लिये कोई अन्य साधन नहीं है। मीमांसकोंके मतमें 'स्वर्ग' शब्दवाच्य निरतिशय प्रीति (प्रेय) ही मोक्ष है और उसकी प्राप्तिका साधन कर्म है। इस मतका आचार्यने अनेकों युक्तियोंसे खण्डन किया है और स्वर्ग तथा कर्म दोनोंहीकी अनित्यता सिद्ध की है।

इस प्रकार आरम्भ करके फिर इस वल्लीमें बतलायी हुई भिन्न-भिन्न उपासनादिकी संक्षिप्त व्याख्या करते हुए इसके उपसंहारमें भी भगवान् भाष्यकारने कुछ विशद विचार किया है। एकादश अनुवाकमें शिष्यको वेदका स्वाध्याय करानेके अनन्तर आचार्य सत्यभाषण एवं धर्माचरणादिका उपदेश करता है तथा समावर्तन संस्कारके लिये आदेश देते हुए उसे गृहस्थोचित कर्मोंकी भी शिक्षा देता है। वहाँ यह बतलाया गया है कि देवकर्म, पितृकर्म तथा अतिथिपूजनमें कभी प्रमाद न होना चाहिये; दान और स्वाध्यायमें भी कभी भूल न होनी चाहिये, सदाचारकी रक्षाके लिये गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए उन्हींके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये—किन्तु वह अनुकरण केवल उनके सुकृतोंका हो, दुष्कृतोंका नहीं। इस प्रकार समस्त वल्लीमें उपासना एवं गृहस्थजनोचित सदाचारका ही निरूपण होनेके कारण किसीको यह आशंका न हो जाय कि ये ही मोक्षके प्रधान साधन हैं इसलिये आचार्य फिर मोक्षके साक्षात् साधनका निर्णय करनेके लिये पाँच विकल्प करते हैं—(१) क्या परम श्रेयकी प्राप्ति केवल कर्मसे हो सकती है ? (२) अथवा विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे (३) किंवा कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे (४) या कर्मकी अपेक्षावाले ज्ञानसे (५) अथवा केवल ज्ञानसे ? इनमेंसे अन्य सब पक्षोंको सदोष सिद्ध करते हुए आचार्यने यही निश्चय किया है कि केवल ज्ञान ही मोक्षका साक्षात् साधन है।

इस प्रकार शीक्षावल्लीमें संहितादिविषयक उपासनाओंका निरूपण कर फिर ब्रह्मानन्दवल्लीमें ब्रह्मविद्याका वर्णन किया गया है। इसका पहला

वाक्य है—*'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* । यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह सूत्रभूत वाक्य ही सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका बीज है । ब्रह्म और ब्रह्मवित्‌के स्वरूपका विचार ही तो ब्रह्मविद्या है और ब्रह्मवेत्ताकी परप्राप्ति ही उसका फल है; अतः निःसन्देह यह वाक्य फलसहित ब्रह्मविद्याका निरूपण करनेवाला है । आगेका समस्त ग्रन्थ इस सूत्रभूत मन्त्रकी ही व्याख्या है । उसमें सबसे पहले *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इस वाक्यद्वारा श्रुति ब्रह्मका लक्षण करती है । इससे ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर उसकी उपलब्धिके लिये पञ्चकोशका विवेक करनेके अभिप्रायसे उसने पक्षीके रूपकद्वारा पाँचों कोशोंका वर्णन किया है और उन सबके आधार-रूपसे सर्वान्तरतम परब्रह्मका *'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'* इस वाक्यद्वारा निर्णय किया है । इसके पश्चात् ब्रह्मकी असत्ता माननेवाले पुरुषकी निन्दा करते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा की है और उसे 'सत्' बतलाया है । फिर ब्रह्मका सार्वात्म्य प्रतिपादन करनेके लिये *'सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेय'* इत्यादि वाक्यद्वारा उसीको जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बतलाया है ।

इस प्रकार सत्संज्ञक ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति दिखलाकर फिर सप्तम अनुवाकमें असत्‌से ही सत्‌की उत्पत्ति बतलायी है । किन्तु यहाँ 'असत्' का अर्थ अभाव न समझकर अव्याकृत ब्रह्म समझना चाहिये और 'सत्' का व्याकृत जगत्, क्योंकि अत्यन्ताभावसे किसी भावपदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्तिसे पूर्व सारे पदार्थ अव्यक्त थे ही । इसलिये 'असत्' शब्द अव्याकृत ब्रह्मका ही वाचक है । वह ब्रह्म रसस्वरूप है; उस रसकी प्राप्ति होनेपर यह जीव रसमय—आनन्दमय हो जाता है । उस रसके लेशसे ही सारा संसार सजीव देखा जाता है । जिस समय साधनाका परिपाक होनेपर पुरुष इस अदृश्य अशरीर अनिर्वाच्य और अनाश्रय परमात्मामें स्थिति लाभ करता है उस समय वह सर्वथा निर्भय हो जाता है; और जो उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है ।

अतः ब्रह्ममें स्थित होना ही जीवकी अभयस्थिति है, क्योंकि वहाँ भेदका सर्वथा अभाव है और भय भेदमें ही होता है *'द्वितीयाद्वै भयं भवति'* ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठकी अभयप्राप्तिका निरूपण कर ब्रह्मके सर्वान्तर्यामित्व और सर्वशासकत्वका वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताके आनन्दकी सर्वोत्कृष्टता दिखलायी है । वहाँ मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, आजानज-देव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा इन सबके आनन्दोंको उत्तरोत्तर शतगुण बतलाते हुए यह दिखलाया है कि निष्काम ब्रह्मवेत्ताको वे सभी आनन्द प्राप्त हैं । क्यों न हो ? सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण क्या वह इन सभीका आत्मा नहीं है । अतः सर्वरूपसे वही तो सारे आनन्दोंका भोक्ता है । भोक्ता ही क्यों, सर्व-आनन्दस्वरूप भी तो वही है, सारे आनन्द उसीके स्वरूपभूत आनन्द-महोदधिके क्षुद्रातिक्षुद्र कण ही तो हैं ।

इसके पश्चात् हृदयपुण्डरीकस्थ पुरुषका आदित्यमण्डलस्थ पुरुषके साथ अभेद करते हुए यह बतलाया है कि जो इन दोनोंका अभेद जानता है वह इस लोक अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूहसे निवृत्त होकर इस समष्टि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार सारा प्रपञ्च उसका अपना शरीर हो जाता है—उसके लिये अपनेसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता । उस निर्भय और अनिर्वाच्य स्वात्मतत्त्वकी जिसे प्राप्ति हो जाती है । उसे न तो किसीका भय रहता है और न किसी कृत या अकृतका अनुताप ही । जब अपनेसे भिन्न कुछ है ही नहीं तो भय किसका और क्रिया कैसी ? क्रिया तो देश, काल या वस्तुका परिच्छेद होनेपर ही होती है; उस एक, अखण्ड, अमर्यादित, अद्वितीय वस्तुमें किसी प्रकारकी क्रियाका प्रवेश कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार ब्रह्मानन्दवल्लीमें ब्रह्मविद्याका निरूपण कर भृगुवल्लीमें उसकी प्राप्तिका मुख्य साधन पञ्चकोश-विवेक दिखलानेके लिये वरुण और भृगुका आख्यान दिया गया है । आत्मतत्त्वका जिज्ञासु भृगु अपने

पिता वरुणके पास जाता है और उससे प्रश्न करता है कि जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्तमें जिसमें ये लीन हो जाते हैं उस तत्त्वका मुझे उपदेश कीजिये। इसपर वरुणने अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये ब्रह्मोपलब्धिके छः मार्ग बतलाकर उसे तप करनेका आदेश किया और कहा कि *'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्म'*—तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है। भृगुने जाकर मनःसमाधानरूप तप किया और इन सबमें अन्नको ही ब्रह्म जाना। किन्तु फिर उसमें सन्देह हो जानेपर उसने फिर वरुणके पास आकर वही प्रश्न किया और वरुणने भी फिर वही उत्तर दिया। इसके पश्चात् उसने प्राणको ब्रह्म जाना और इसी प्रकार पुनः-पुनः सन्देह होने और पुनः-पुनः वरुणके वही आदेश देनेपर अन्तमें उसने आनन्दको ही ब्रह्म निश्चय किया।

यहाँ ब्रह्मज्ञानका प्रथम द्वार अन्न था। इसीसे श्रुति यह आदेश करती है कि अन्नकी निन्दा न करे—यह नियम है, अन्नका तिरस्कार न करे—यह नियम है और खूब अन्नसंग्रह करे—यह भी नियम है। यदि कोई अपने निवासस्थानपर आवे तो उसकी उपेक्षा न करे; सामर्थ्यानुसार अन्न, जल एवं आसनादिसे उसका अवश्य सत्कार करे। ऐसा करनेसे वह अन्नवान्, कीर्तिमान् तथा प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होता है। इस प्रकार अन्नकी महिमाका वर्णन कर भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें भिन्न-भिन्नरूपसे उसकी उपासनाका विधान किया गया है। उस उपासनाके द्वारा जब उसे अपने सार्वात्म्यका अनुभव होता है उस समय उस लोकोत्तर आनन्दसे उन्मत्त होकर वह अपनी कृतकृत्यताको व्यक्त करते हुए अत्यन्त विस्मयपूर्वक गा उठता है—*'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः! अह१ँश्लोककृदह१ँश्लोककृदह१ँश्लोककृद्'* इत्यादि। उसकी यह उन्मत्तोक्ति उसके कृतकृत्य हृदयका उद्गार है, यह उसका अनुभव है और यही है उसके आध्यात्मिक संग्रामके अयत्नसाध्य भगवत्कृपालभ्य विजयका उद्घोष।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद्का प्रधान लक्ष्य ब्रह्मज्ञान ही है। इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी और शृङ्खलाबद्ध है। भगवान् शङ्कराचार्यने इसके ऊपर जो भाष्य लिखा है वह भी बहुत विचारपूर्ण है। आशा है, विज्ञजन उससे यथेष्ट लाभ उठानेका प्रयत्न करेंगे।

इस उपनिषद्के प्रकाशनके साथ प्रथम आठ उपनिषदोंके प्रकाशनका कार्य समाप्त हो जाता है। हमें इनके अनुवादमें श्रीविष्णुवापटशास्त्रीकृत मराठी-अनुवाद, श्रीदुर्गाचरण मजूमदारकृत बँगला-अनुवाद, ब्रह्मनिष्ठ पं० श्रीपीताम्बरजीकृत हिन्दी-अनुवाद और महामहोपाध्याय डा० श्रीगंगानाथजी झा एवं पं० श्रीसीतारामजी शास्त्रीकृत अंग्रेजी अनुवादसे यथेष्ट सहायता मिली है। अतः हम इन सभी महानुभावोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। फिर भी हमारी अल्पज्ञताके कारण इनमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह जानी स्वाभाविक हैं। उनके लिये हम कृपालु पाठकोंसे सविनय क्षमा-प्रार्थना करते हैं और आशा करते हैं कि वे उनकी सूचना देकर हमें अनुगृहीत करेंगे, जिससे कि हम अगले संस्करणमें उनके संशोधनका प्रयत्न कर सकें। हमारी इच्छा है कि हम शीघ्र ही छान्दोग्य और बृहदारण्यक भी हिन्दीसंसारके सामने रख सकें। यदि विचारशील वाचकवृन्दने हमें प्रोत्साहित किया तो बहुत सम्भव है कि हम इस सेवामें शीघ्र ही सफल हो सकें।

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय ... पृष्ठ

भृगुवल्ली

दशम अनुवाक



वरुण और भृगु

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

तैत्तिरीयोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

सर्वांशाध्वान्तनिर्मुक्तं सर्वांशाभास्करं परम् ।
चिदाकाशावतंसं तं सद्गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु
माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शीक्षावल्ली

प्रथम अनुवाक

सम्बन्ध-भाष्य

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते ।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ १ ॥

जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें ही वह लीन होता है और जिसके द्वारा वह धारण भी किया जाता है उस ज्ञानस्वरूपको मेरा नमस्कार है ।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः ।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

पूर्वकालमें जिन गुरुजनोंने पद, वाक्य और प्रमाणोंके विवेचन-पूर्वक इन सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या की है उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ।

तैत्तिरीयकसारस्य मयाचार्यप्रसादतः ।
विस्पष्टार्थरुचीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते ॥ ३ ॥

जो स्पष्ट अर्थ जाननेके इच्छुक हैं उन पुरुषोंके लिये मैं श्रीआचार्यकी कृपासे तैत्तिरीयशाखाके सारभूत इस उपनिषद्की व्याख्या करता हूँ ।

नित्यान्यधिगतानि कर्माण्युपात्तदुरितक्षयार्थानि, काम्यानि च फलार्थिनां पूर्वस्मिन्ग्रन्थे। इदानीं कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयते।

उपक्रमः

सञ्चित पापोंका क्षय ही जिनका मुख्य प्रयोजन है ऐसे नित्यकर्मोंका तथा सकाम पुरुषोंके लिये विहित काम्यकर्मोंका इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थमें [अर्थात् कर्मकाण्डमें] परिज्ञान हो चुका है। अब कर्मानुष्ठानके कारणकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मविद्याका आरम्भ किया जाता है।

कर्महेतुः कामः स्यात्। प्रवर्तकत्वात्। आप्तकामानां हि कामाभावे स्वात्मन्यवस्थानात् प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। आत्मकामित्वे चाप्तकामता; आत्मा हि ब्रह्म; तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति। अतोऽविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः। "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० उ० २। ७। १) "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० उ० २। ८। १२) इत्यादिश्रुतेः।

आत्मविदेवाप्तकामो भवति

कामना ही कर्मकी कारण हो सकती है, क्योंकि वही उसकी प्रवर्तक है। जो लोग पूर्णकाम हैं उनकी कामनाओंका अभाव होनेपर स्वरूपमें स्थिति हो जानेसे कर्ममें प्रवृत्ति होनी असम्भव है। आत्मदर्शनकी कामना पूर्ण होनेपर ही पूर्णकामता [की सिद्धि] होती है; क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्मवेत्ताको ही परमात्माकी प्राप्ति होती है ऐसा आगे [श्रुति] बतलायेगी। अतः अविद्याकी निवृत्ति होनेपर अपने आत्मामें स्थित हो जाना ही परमात्माकी प्राप्ति है; जैसा कि "अभय पद प्राप्त कर लेता है" "[उस समय] इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है।

मीमांसकमत-समीक्षा

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य चोपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानेन प्रत्यवायाभावादयत्नत एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः । अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतुत्वात्कर्मभ्य एव मोक्ष इति चेत् ।

न; कर्मानेकत्वात् । अनेकानि ह्यारब्धफलान्यनारब्धफलानि चानेकजन्मान्तरकृतानि विरुद्धफलानि कर्माणि सम्भवन्ति। अतस्तेष्वनारब्धफलानामेकस्मिञ्जन्मन्युपभोगक्षयासंभवाच्छेषकर्मनिमित्तशरीरारम्भोपपत्तिः । कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च "तद्य इह रमणीयचरणाः" (छा० उ० ५ । १० । ७) "ततः शेषेण" (आ० ध० २ । २ । २ । ३, गो०

पूर्व०—काम्य और निषिद्ध कर्मोंका आरम्भ न करनेसे, प्रारब्ध कर्मोंका भोगद्वारा क्षय हो जानेसे तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे प्रत्यवायोंका अभाव हो जानेसे अनायास ही अपने आत्मामें स्थित होनारूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा; अथवा 'स्वर्ग' शब्दवाच्य आत्यन्तिक प्रीति कर्मजनित होनेके कारण कर्मसे ही मोक्ष हो सकता है—यदि ऐसा माना जाय तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि कर्म तो बहुत-से हैं। अनेकों जन्मान्तरोंमें किये हुए ऐसे अनेकों विरुद्ध फलवाले कर्म हो सकते हैं जिनमेंसे कुछ तो फलोन्मुख हो गये हैं और कुछ अभी फलोन्मुख नहीं हुए हैं । अतः उनमें जो कर्म अभी फलोन्मुख नहीं हुए हैं उनका एक जन्ममें ही क्षय होना असम्भव होनेके कारण उन अवशिष्ट कर्मोंके कारण दूसरे शरीरका आरम्भ होना सम्भव ही है । "इस लोकमें जो शुभ कर्म करनेवाले हैं [उन्हें शुभयोनि प्राप्त होती है]" "[उपभोग किये कर्मोंसे] बचे हुए कर्मोंद्वारा [जीवको आगेका शरीर

स्मृ० ११) इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः ।

इष्टानिष्टफलानामनारब्धानां क्षयार्थानि नित्यानीति चेत् ?

न; अकरणे प्रत्यवायश्रवणात् । प्रत्यवायशब्दो ह्यनिष्टविषयः । नित्याकरणनिमित्तस्य प्रत्यवायस्य दुःखरूपस्यागामिनः परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युपगमान्नानारब्धफलकर्मक्षयार्थानि ।

यदि नामानारब्धकर्मक्षयार्थानि नित्यानि कर्माणि तथाप्यशुद्धमेव क्षपयेयुर्न शुद्धम् । विरोधाभावात् । न हीष्टफलस्य कर्मणः शुद्धरूपत्वान्नित्यैर्विरोध उपपद्यते । शुद्धाशुद्धयोर्हि विरोधो युक्तः ।

प्राप्त होता है]'' इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे अवशिष्ट कर्मके सद्भावकी सिद्धि होती ही है ।

पूर्व०—इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकारके फल देनेवाले सञ्चित कर्मोंका क्षय करनेके लिये ही नित्यकर्म हैं—ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उन्हें न करनेपर प्रत्यवाय होता है—ऐसा सुना गया है । 'प्रत्यवाय' शब्द अनिष्टका ही सूचक है । नित्यकर्मोंके न करनेके कारण जो आगामी दुःखरूप प्रत्यवाय होता है उसका नाश करनेके लिये ही नित्यकर्म हैं—ऐसा माना जानेके कारण वे सञ्चित कर्मोंके क्षयके लिये नहीं हो सकते ।

और यदि नित्यकर्म, जिनका फल अभी आरम्भ नहीं हुआ है उन॰ कर्मोंके क्षयके लिये हों भी तो भी वे अशुद्ध कर्मका ही क्षय करेंगे; शुद्धका नहीं; क्योंकि उनसे तो उनका विरोध ही नहीं है । जिनका फल इष्ट है उन कर्मोंका तो शुद्धरूप होनेके कारण नित्यकर्मोंसे विरोध होना सम्भव ही नहीं है । विरोध तो शुद्ध और अशुद्ध कर्मोंका ही होना उचित है ।

न च कर्महेतूनां कामानां ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवादशेषकर्मक्षयोपपत्तिः । अनात्मविदो हि कामोऽनात्मफलविषयत्वात् । स्वात्मनि च कामानुपपत्तिर्नित्यप्राप्तत्वात् । स्वयं चात्मा परं ब्रह्मेत्युक्तम् ।

नित्यानां चाकरणमभावस्ततः प्रत्यवायानुपपत्तिरिति । अतः पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणायाः प्रत्यवायक्रियाया नित्याकरणं लक्षणमिति "अकुर्वन्विहितं कर्म" (मनु० ११ । ४४) इति शतुर्नानुपपत्तिः । अन्यथाभावाद्भावोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याकोप इति । अतोऽयत्नतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम् ।

इसके सिवा कर्मकी हेतुभूत कामनाओंकी निवृत्ति भी ज्ञानके अभावमें असम्भव होनेके कारण उन (नित्य कर्मों) के द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अनात्मफलविषयिणी होनेके कारण कामना अनात्मवेत्ताको ही हुआ करती है। आत्मामें तो कामनाका होना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि वह नित्यप्राप्त है। और यह तो कहा ही जा चुका है कि स्वयं आत्मा ही परब्रह्म है।

तथा नित्यकर्मोंका न करना तो अभावरूप है, उससे प्रत्यवाय होना असम्भव है। अतः नित्यकर्मोंका न करना यह पूर्वसञ्चित पापोंसे प्राप्त होनेवाली प्रत्यवायक्रियाका ही लक्षण है। इसलिये "अकुर्वन् विहितं कर्म" इस वाक्यके 'अकुर्वन्' पदमें 'शतृ' प्रत्ययका होना अनुचित नहीं है। अन्यथा अभावसे भावकी उत्पत्ति सिद्ध होनेके कारण सभी प्रमाणोंसे विरोध हो जायगा। अतः ऐसा मानना सर्वथा अयुक्त है कि [कर्मानुष्ठानसे] अनायास ही आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है।

यच्चोक्तं निरतिशयप्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्मनिमित्तत्वात्कर्मारब्ध एव मोक्ष इति, तन्न; नित्यत्वान्मोक्षस्य । न हि नित्यं किञ्चिदारभ्यते । लोके यदारब्धं तदनित्यमिति । अतो न कर्मारब्धो मोक्षः ।

और यह जो कहा कि 'स्वर्ग' शब्दसे कही जानेवाली निरतिशय प्रीति कर्मनिमित्तक होनेके कारण मोक्ष कर्मसे ही आरम्भ होनेवाला है, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्य है और किसी भी नित्य वस्तुका आरम्भ नहीं किया जाता; लोकमें जिस वस्तुका भी आरम्भ होता है वह अनित्य हुआ करती है; इसलिये मोक्ष कर्मारब्ध नहीं है ।

विद्यासहितानां कर्मणां नित्यारम्भसामर्थ्यमिति चेत् ?

पूर्व०—ज्ञानसहित कर्मोंमें तो नित्य मोक्षके आरम्भ करनेकी भी सामर्थ्य है ही ?

न; विरोधात् । नित्यं चारभ्यत इति विरुद्धम् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे विरोध आता है, मोक्ष नित्य है और उसका आरम्भ किया जाता है—ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है ।

यद्विनष्टं तदेव नोत्पद्यत इति । प्रध्वंसाभाववन्नित्योऽपि मोक्ष आरभ्य एवेति चेत् ?

पूर्व०—जो वस्तु नष्ट हो जाती है वही फिर उत्पन्न नहीं हुआ करती, अतः प्रध्वंसाभावके समान नित्य होनेपर भी मोक्षका आरम्भ किया ही जाता है । ऐसा मानें तो ?

न; मोक्षस्य भावरूपत्वात् । प्रध्वंसाभावोऽप्यारभ्यत इति न संभवति; अभावस्य विशेषाभावाद्विकल्पमात्रमेतत् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि मोक्ष तो भावरूप है । प्रध्वंसाभाव भी आरम्भ किया जाता है यह संभव नहीं; क्योंकि अभावमें कोई विशेषता न होनेके कारण यह तो केवल विकल्प ही है । भावका

भावप्रतियोगी ह्यभावः । यथा ह्यभिन्नोऽपि भावो घट-पटादिभिर्विशेष्यते भिन्न इव घटभावः पटभाव इति; एवं निर्विशेषोऽप्यभावः क्रिया-गुणयोगाद्द्रव्यादिवद्विकल्प्यते । न ह्यभाव उत्पलादिवद्विशेषण-सहभावी । विशेषणवत्त्वे भाव एव स्यात् ।

विद्याकर्मकर्तृनित्यत्वाद्विद्या-कर्मसन्तानजनितमोक्षनित्यत्व-मिति चेत् ?

नः गङ्गास्रोतोवत्कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात् । कर्तृत्वोपरमे च मोक्षविच्छेदात् । तस्मादविद्या-कामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वा-त्मन्यवस्थानं मोक्ष इति । स्वयं

प्रतियोगी ही 'अभाव' कहलाता है । जिस प्रकार भाव वस्तुतः अभिन्न होनेपर भी घट-पट आदि विशेषणोंसे भिन्नके समान घटभाव, पटभाव आदि रूपसे विशेषित किया जाता है इसी प्रकार अभाव निर्विशेष होनेपर भी क्रिया और गुणके योगसे द्रव्यादिके समान विकल्पित होता है । कमल आदि पदार्थोंके समान अभाव विशेषणके सहित रहनेवाला नहीं है । विशेषण-युक्त होनेपर तो वह भाव ही हो जायगा ।

पूर्व०—विद्या और कर्म इनका कर्ता नित्य होनेके कारण विद्या और कर्मके अविच्छिन्न प्रवाहसे होनेवाला मोक्ष नित्य ही होना चाहिये । ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, गङ्गाप्रवाहके समान जो कर्तृत्व है वह तो दुःख-रूप है । [अतः उससे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, और यदि उसीसे मोक्ष माना जाय तो भी] कर्तृत्वकी निवृत्ति होनेपर मोक्षका विच्छेद हो जायगा । अतः अविद्या, कामना और कर्म—इनके उपादान कारणकी निवृत्ति होनेपर आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही मोक्ष है—यह सिद्ध

चात्मा ब्रह्म । तद्विज्ञानादविद्यानिवृत्तिरिति ब्रह्मविद्यार्थोपनिषदारभ्यते ।

उपनिषच्छब्द-निरुक्तिः

उपनिषदिति विद्योच्यते; तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति । तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत् ।

होता है । तथा स्वयं आत्मा ही ब्रह्म है और उसके ज्ञानसे ही अविद्याकी निवृत्ति होती है; अतः अब ब्रह्मज्ञानके लिये उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है ।

अपना सेवन करनेवाले पुरुषोंके गर्भ, जन्म और जरा आदिका निशातन (उच्छेद) करने या उनका अवसादन (नाश) करनेके कारण 'उपनिषद्' शब्दसे विद्या ही कही जाती है । अथवा ब्रह्मके समीप ले जानेवाली होनेसे या इसमें परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है इसलिये [यह विद्या 'उपनिषद्' है] । उस विद्याके ही लिये होनेके कारण ग्रन्थ भी 'उपनिषद्' है ।

शीक्षावल्लीका शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

[प्राणवृत्ति और दिनका अभिमानी देवता] मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिये सुखकर हो । [अपानवृत्ति और रात्रिका अभिमानी] वरुण

हमारे लिये सुखावह हो । [नेत्र और सूर्यका अभिमानी देवता] अर्यमा हमारे लिये सुखप्रद हो । बलका अभिमानी इन्द्र तथा [वाक् और बुद्धिका अभिमानी देवता] बृहस्पति हमारे लिये शान्तिदायक हो । तथा जिसका पादविक्षेप (डग) बहुत विस्तृत है वह [पादाभिमानी देवता] विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो । ब्रह्म [रूप वायु] को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । अतः तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । तुम्हींको ऋत (शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ) कहूँगा और [क्योंकि वाक् और शरीरसे सम्पन्न होनेवाले कार्य भी तुम्हारे ही अधीन हैं इसलिये] तुम्हींको मैं सत्य कहूँगा । अतः तुम [विद्यादानके द्वारा] मेरी रक्षा करो तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले आचार्यकी भी [उन्हें वक्तृत्व-सामर्थ्य देकर] रक्षा करो । मेरी रक्षा करो और वक्ताकी रक्षा करो । आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ॥ १ ॥

शं सुखं प्राणवृत्तेरहश्चाभिमानी देवतात्मा मित्रो नोऽस्माकं भवतु । तथैवापानवृत्ते रात्रेश्चाभिमानी देवतात्मा वरुणः । चक्षुष्यादित्ये चाभिमान्यर्यमा । बल इन्द्रः । वाचि बुद्धौ च बृहस्पतिः । विष्णुरुरुक्रमो विस्तीर्णक्रमः पादयोरभिमानी । एवमाद्याध्यात्मदेवताः शं नः । भवत्विति सर्वत्रानुषङ्गः ।

प्राणवृत्ति और दिनका अभिमानी देवता मित्र हमारे लिये शं—सुखरूप हो । इसी प्रकार अपानवृत्ति और रात्रिका अभिमानी देवता वरुण, नेत्र और सूर्यमें अभिमान करनेवाला अर्यमा, बलमें अभिमान करनेवाला इन्द्र, वाणी और बुद्धिका अभिमानी बृहस्पति तथा उरुक्रम अर्थात् विस्तीर्ण पादविक्षेपवाला पादाभिमानी देवता विष्णु—इत्यादि सभी अध्यात्म-देवता हमारे लिये सुखदायक हों । 'भवतु' (हों) इस क्रियाका सभी वाक्योंके साथ सम्बन्ध है ।

तासु हि सुखकृत्सु विद्याश्रवणधारणोपयोगा अप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति तत्सुखकर्तृत्वं प्रार्थ्यते शं नो भवत्विति ।

ब्रह्म विविदिषुणा नमस्कारवन्दनक्रिये वायुविषये ब्रह्मविद्योपसर्गशान्त्यर्थं क्रियेते । सर्वक्रियाफलानां तदधीनत्वाद् ब्रह्म वायुस्तस्मै ब्रह्मणे नमः । प्रह्वीभावं करोमीति वाक्यशेषः । नमस्ते तुभ्यं हे वायो नमस्करोमीति । परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां वायुरेवाभिधीयते ।

किं च त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य बाह्यं संनिकृष्टमव्यवहितं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि यस्मात्तस्मात्त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं तदपि त्वद-

उनके सुखप्रद होनेपर ही ज्ञानके श्रवण, धारण और उपयोग निर्विघ्नतासे हो सकेंगे—इसलिये ही 'शं नो भवतु' आदि मन्त्रद्वारा उनकी सुखावहताके लिये प्रार्थना की जाती है ।

अब ब्रह्मके जिज्ञासुद्वारा ब्रह्मविद्याके विघ्नोंकी शान्तिके लिये वायुसम्बन्धी नमस्कार और वन्दन किये जाते हैं । समस्त कर्मोंका फल वायुके ही अधीन होनेके कारण ब्रह्म वायु है । उस ब्रह्मको मैं नमस्कार अर्थात् प्रह्वीभाव (विनीतभाव) करता हूँ । यहाँ 'करोमि' यह क्रिया वाक्यशेष है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है—मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ—इस प्रकार यहाँ परोक्ष और प्रत्यक्षरूपसे वायु ही कहा गया है ।

इसके सिवा क्योंकि बाह्य चक्षु आदिकी अपेक्षा तुम्हीं समीपवर्ती—अव्यवहित अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म हो इसलिये तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । तुम्हींको ऋत अर्थात् शास्त्र और अपने कर्त्तव्यानुसार बुद्धिमें सम्यक्रूपसे निश्चित किया हुआ अर्थ कहूँगा, क्योंकि वह [ऋत]

धीनत्वात्त्वामेव वदिष्यामि । सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः, सोऽपि त्वदधीन एव संपाद्य इति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि ।

तुम्हारे ही अधीन है । वाक् और शरीरसे सम्पादन किया जानेवाला वह अर्थ ही सत्य कहलाता है, वह भी तुम्हारे ही अधीन सम्पादन किया जाता है; अतः तुम्हींको मैं सत्य कहूँगा ।

तत्सर्वात्मकं वाय्वाख्यं ब्रह्म मयैवं स्तुतं सन्मां विद्यार्थिनमवतु विद्यासंयोजनेन । तदेव ब्रह्म वक्तारमाचार्यं वक्तृत्वसामर्थ्यसंयोजनेनावतु । अवतु मामवतु वक्तारमिति पुनर्वचनमादरार्थम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां विद्याप्राप्त्युपसर्गाणां प्रशमार्थम् ॥१॥

वह वायुसंज्ञक सर्वात्मक ब्रह्म मेरेद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर मुझ विद्यार्थीको विद्यासे युक्त करके रक्षा करे । वही ब्रह्म वक्ता आचार्यको वक्तृत्वसामर्थ्यसे युक्त करके उसकी रक्षा करे । मेरी रक्षा करे और वक्ताकी रक्षा करे—इस प्रकार दो बार कहना आदरके लिये है । 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'—ऐसा तीन बार कहना विद्याप्राप्तिके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक विघ्नोंकी शान्तिके लिये है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

शीक्षाकी व्याख्या

अर्थज्ञानप्रधानत्वादुपनिषदो ग्रन्थपाठे यत्नोपरमो मा भूदिति शीक्षाध्याय आरभ्यते—

उपनिषद् अर्थज्ञानप्रधान है [अर्थात् अर्थज्ञान ही इसमें मुख्य है], अतः इस ग्रन्थके अध्ययनका प्रयत्न शिथिल न हो जाय—इसलिये पहले शीक्षाध्याय आरम्भ किया जाता है—

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

हम शीक्षाकी व्याख्या करते हैं। [अकारादि] वर्ण, [उदात्तादि] स्वर, [ह्रस्वादि] मात्रा, [शब्दोच्चारणमें प्राणका प्रयत्नरूप] बल, [एक ही नियमसे उच्चारण करनारूप] साम तथा सन्तान (संहिता) [ये ही विषय इस अध्यायसे सीखे जाने योग्य हैं]। इस प्रकार शीक्षाध्याय कहा गया ॥ १ ॥

शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्। शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः। शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्यं छान्दसम्। तां शीक्षां व्याख्यास्यामो विस्पष्टमा समन्तात्कथयिष्यामः।

जिससे वर्णादिका उच्चारण सीखा जाय उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायँ वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं। शिक्षाको ही 'शीक्षा' कहा गया है। [शीक्षाशब्दमें ईकारका] दीर्घत्व वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है। उस शीक्षाकी हम व्याख्या करते हैं अर्थात् उसका सर्वतोभावसे स्पष्ट वर्णन करते हैं।

चक्षिङो वा ख्याञादिष्टस्य व्याङ्पूर्वस्य व्यक्तवाक्कर्मण एतद्रूपम् ।

तत्र वर्णोऽकारादिः, स्वर उदात्तादिः, मात्रा ह्रस्वाद्याः, बलं प्रयत्नविशेषः, साम वर्णानां मध्यमवृत्त्योच्चारणं समता, सन्तानः सन्ततिः संहितेत्यर्थः । एष हि शिक्षितव्योऽर्थः । शिक्षा यस्मिन्नध्याये सोऽयं शीक्षाध्याय इत्येवमुक्त उदितः । उक्त इत्युपसंहारार्थः ॥ १ ॥

'व्याख्यास्यामः' यह पद 'वि' और 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातुके स्थानमें वैकल्पिक 'ख्याञ्' आदेश करनेसे निष्पन्न होता है । इसका अर्थ स्पष्ट उच्चारण है ।

तहाँ अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्राएँ, [वर्णोंके उच्चारणमें] प्रयत्नविशेषरूप बल, वर्णोंको मध्यम वृत्तिसे उच्चारण करनारूप साम अर्थात् समता तथा सन्तान—सन्तति अर्थात् संहिता—यही शिक्षणीय विषय है । शिक्षा जिस अध्यायमें है उस इस शीक्षा-अध्यायका इस प्रकार कथन यानी प्रकाशन कर दिया गया । यहाँ 'उक्तः' पद उपसंहारके लिये है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

पाँच प्रकारकी संहितोपासना

अधुना संहितोपनिषदुच्यते—

अब संहितासम्बन्धिनी उपनिषत् (उपासना) कही जाती है—

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासꣳहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः ॥ १ ॥

वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् ॥ २ ॥

अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनꣳसंधानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननꣳसंधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक्संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्य-

ध्यात्मम् । इतीमा महासꣳहिताः य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसे-नान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥ ४ ॥

हम [शिष्य और आचार्य] दोनोंको साथ-साथ यश प्राप्त हो और हमें साथ-साथ ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो । [क्योंकि जिन पुरुषोंकी बुद्धि शास्त्राध्ययनद्वारा परिमार्जित हो गयी है वे भी परमार्थतत्त्वको समझनेमें सहसा समर्थ नहीं होते, इसलिये] अब हम पाँच अधिकरणों-में संहिताकी * उपनिषद् [अर्थात् संहितासम्बन्धिनी उपासना] की व्याख्या करेंगे । अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म—ये ही पाँच अधिकरण हैं । पण्डितजन उन्हें महासंहिता कहकर पुकारते हैं । अब अधिलोक (लोकसम्बन्धी) दर्शन (उपासना) का वर्णन किया जाता है—संहिताका प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है ॥ १ ॥ और वायु सन्धान (उनका परस्पर सम्बन्ध करनेवाला) है । [अधिलोकउपासकको संहितामें इस प्रकार दृष्टि करनी चाहिये]—यह अधिलोक दर्शन कहा गया । इसके अनन्तर अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आप (जल) है और विद्युत् सन्धान है [अधिज्यौतिषउपासकको संहितामें ऐसी दृष्टि करनी चाहिये]—यह अधिज्यौतिष दर्शन कहा गया । इसके पश्चात् अधि-विद्य दर्शन कहा जाता है—इसकी संहिताका प्रथम वर्ण आचार्य है ॥ २ ॥ अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सन्धि है और प्रवचन (प्रश्नोत्तर-रूपसे निरूपण करना) सन्धान है [—ऐसी अधिविद्यउपासकको दृष्टि

* 'संहिता' शब्दका अर्थ सन्धि या वर्णोंका सामीप्य है । भिन्न-भिन्न वर्णोंके मिलनेपर ही शब्द बनते हैं; उनमें जब एक वर्णका दूसरे वर्णसे योग होता है तो उन पूर्वोत्तर वर्णोंके योगको 'सन्धि' कहते हैं और जिस शब्दोच्चारण-सम्बन्धी प्रयत्नके योगसे सन्धि होती है उसे 'सन्धान' कहा जाता है ।

करनी चाहिये] । यह विद्यासम्बन्धी दर्शन कहा गया । इससे आगे अधिप्रज दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (सन्तान) सन्धि है और प्रजनन (ऋतु-कालमें भार्यागमन) सन्धान है [—अधिप्रजउपासकको ऐसी दृष्टि करनी चाहिये] । यह प्रजासम्बन्धी उपासनाका वर्णन किया गया ॥ ३ ॥ इसके पश्चात् अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—इसमें संहिताका प्रथम वर्ण नीचेका हनु (नीचेके होठसे ठोडीतकका भाग) है, अन्तिम वर्ण ऊपरका हनु (ऊपरके होठसे नासिकातकका भाग) है, वाणी सन्धि है और जिह्वा सन्धान है [—ऐसी अध्यात्मउपासकको दृष्टि करनी चाहिये] । यह अध्यात्मदर्शन कहा गया । इस प्रकार ये महासंहिताएँ कहलाती हैं । जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासंहिताओंको जानता है [अर्थात् इस प्रकार उपासना करता है] वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न और स्वर्गलोकसे संयुक्त किया जाता है । [अर्थात् उसे इन सबकी प्राप्ति होती है] ॥ ४ ॥

तत्र संहिताद्युपनिषत्परिज्ञाननिमित्तं यद्यशः प्रार्थ्यते तन्नावावयोः शिष्याचार्ययोः सहैवास्तु । तन्निमित्तं च यद्ब्रह्मवर्चसं तेजस्तच्च सहैवास्त्विति शिष्यवचनमाशीः । शिष्यस्य ह्यकृतार्थत्वात्प्रार्थनोपपद्यते नाचार्यस्य । कृतार्थत्वात् । कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवति ।

उस संहितादि उपनिषद् [अर्थात् संहितादिसम्बन्धिनी उपासना] के परिज्ञानके कारण जिस यशकी याचना की जाती है वह हम शिष्य और आचार्य दोनोंको साथ-साथ ही प्राप्त हो । तथा उसके कारण जो ब्रह्मतेज होता है वह भी हम दोनोंको साथ-साथ ही मिले—इस प्रकार यह कामना शिष्य-का वाक्य है, क्योंकि अकृतार्थ होनेके कारण शिष्यके लिये ही प्रार्थना करना सम्भव भी है—आचार्यके लिये नहीं, क्योंकि वह कृतार्थ होता है; जो पुरुष कृतार्थ होता है वही आचार्य कहलाता है ।

शास्त्रं तुल्यप्रत्ययसन्ततिरसंकीर्णा चातत्प्रत्ययैः शास्त्रोक्तालम्बनविषया च । प्रसिद्धश्चोपासनशब्दार्थो लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति । यो हि गुर्वादीन्सन्ततमुपचरति स उपास्त इत्युच्यते । स च फलमाप्नोत्युपासनस्य । अतोऽत्रापि च य एवं वेद संधीयते प्रजादिभिः स्वर्गान्तैः । प्रजादिफलान्याप्नोतीत्यर्थः ॥१-४॥

शास्त्रानुसार समान प्रत्ययके प्रवाहका नाम 'उपासना' है । वह प्रवाह विजातीय प्रत्ययोंसे रहित और शास्त्रोक्त आलम्बनको आश्रय करनेवाला होना चाहिये । लोकमें 'गुरुकी उपासना करता है' 'राजाकी उपासना करता है' इत्यादि वाक्योंमें 'उपासना' शब्दका अर्थ प्रसिद्ध ही है । जो पुरुष गुरु आदिकी निरन्तर परिचर्या करता है वही 'उपासना करता है' ऐसा कहा जाता है । वही उस उपासनाका फल भी प्राप्त करता है । अतः इस महासंहिताके सम्बन्धमें भी जो पुरुष इस प्रकार उपासना करता है वह [मन्त्रमें बतलाये हुए] प्रजासे लेकर स्वर्गपर्यन्त समस्त पदार्थोंसे सम्पन्न होता है, अर्थात् प्रजादिरूप फल प्राप्त करता है ॥ १-४ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

श्री और बुद्धिकी कामनावालोंके लिये जप और होमसम्बन्धी मन्त्र

यश्छन्दसामिति मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं जपहोमावुच्येते । "स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु" "ततो मे श्रियमावह" इति च लिङ्गदर्शनात् ।

अब 'यश्छन्दसाम्' इत्यादि मन्त्रोंसे मेधाकामी तथा श्रीकामी पुरुषोंके लिये उनकी प्राप्तिके साधन जप और होम बतलाये जाते हैं; क्योंकि "वह इन्द्र मुझे मेधासे प्रसन्न अथवा बलयुक्त करे" तथा "अतः उस श्रीको तू मेरे पास ला" इन वाक्योंमें [क्रमशः मेधा और श्री-प्राप्तिके लिये की गयी प्रार्थनाके] लिङ्ग देखे जाते हैं ।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥ १ ॥

कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासांꣳसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥ २ ॥

जो वेदोंमें ऋषभ (श्रेष्ठ अथवा प्रधान) और सर्वरूप है तथा वेदरूप अमृतसे प्रधानरूपसे आविर्भूत हुआ है वह [ओंकाररूप] इन्द्र (सम्पूर्ण कामनाओंका ईश) मुझे मेधासे प्रसन्न अथवा बलयुक्त करे। हे देव ! मैं अमृतत्व (अमृतत्वके हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) का धारण करनेवाला होऊँ। मेरा शरीर विचक्षण (योग्य) हो। मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुमती (मधुर भाषण करनेवाली) हो। मैं कानोंसे खूब श्रवण करूँ। [हे ओंकार !] तू ब्रह्मका कोष है और लौकिक बुद्धिसे ढँका हुआ है [अर्थात् लौकिक बुद्धिके कारण तेरा ज्ञान नहीं होता] तू। मेरी श्रवण की हुई विद्याकी रक्षा कर। मेरे लिये वस्त्र, गौ और अन्न-पानको सर्वदा शीघ्र ही ले आनेवाली और इनका विस्तार करनेवाली श्रीको [भेंड़-बकरी आदि] ऊनवाले तथा अन्य पशुओंके सहित बुद्धि प्राप्त करानेके अनन्तर तू मेरे पास ला—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग मेरे पास आवें—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग मेरे प्रति निष्कपट हों—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग प्रमा (यथार्थ ज्ञान) को धारण करें—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग दम (इन्द्रियदमन) करें—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग शम (मनोनिग्रह) करें—स्वाहा। [इन मन्त्रोंके पीछे जो 'स्वाहा' शब्द है वह इस बातको सूचित करता है कि ये हवनके लिये हैं] ॥ १-२ ॥

ओङ्कारतो बुद्धि-बलं प्रार्थ्यते

यश्छन्दसां वेदानामृषभ इवर्षभः प्राधान्यात्। विश्वरूपः सर्वरूपः सर्ववाग्व्याप्तेः। "तद्यथा शङ्कुना" (छा० उ० २। २३। ३) इत्यादि श्रुत्यन्तरात्। अत एव-

जो [ओंकार] प्रधान होनेके कारण छन्द—वेदोंमें श्रेष्ठके समान श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण वाणीमें व्याप्त होनेके कारण विश्वरूप यानी सर्वमय है; जैसा कि "जिस प्रकार शङ्कुओं (पत्तोंकी नसों) से [सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है—ओंकार ही यह सब कुछ है]" इस एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है। इसीलिये

र्षभत्वमोङ्कारस्य । ओङ्कारो ह्यत्रोपास्य इति ऋषभादि-शब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैवोङ्कारस्य। छन्दोभ्यो वेदेभ्यो वेदा ह्यमृतं तस्मादमृतादधिसंबभूव । लोक-देववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्ठं जिघृक्षोः प्रजापतेस्तपस्यत ओङ्कारः सारिष्ठत्वेन प्रत्यभा-दित्यर्थः । न हि नित्यस्योङ्कार-स्याञ्जसैवोत्पत्तिरेव कल्प्यते । स एवंभूत ओङ्कार इन्द्रः सर्व-कामेशः परमेश्वरो मा मां मेधया प्रज्ञया स्पृणोतु प्रीणयतु बलयतु वा । प्रज्ञाबलं हि प्रार्थ्यते ।

अमृतस्य अमृतत्वहेतुभूतस्य ब्रह्मज्ञानस्य तदधिकारात्, हे देव धारणो धारयिता भूयासं भवेयम् । किं च शरीरं मे मम विचर्षणं विचक्षणं योग्यमित्ये-तत् । भूयादिति प्रथमपुरुष-विपरिणामः । जिह्वा मे मधु-

ओंकारकी श्रेष्ठता है । यहाँ ओंकार ही उपासनीय है, इसलिये 'ऋषभ' आदि शब्दोंसे ओंकारकी स्तुति की जानी उचित ही है । छन्द अर्थात् वेदोंसे—वेद ही अमृत हैं, उस अमृतसे जो प्रधानरूपसे हुआ है । तात्पर्य यह है कि लोक, देव, वेद और व्याहृतियोंसे सर्वोत्कृष्ट सार ग्रहण करनेकी इच्छासे तप करते हुए प्रजा-पतिको ओंकार ही सर्वोत्तम साररूपसे भासित हुआ था, क्योंकि नित्य ओंकारकी साक्षात् उत्पत्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती । वह इस प्रकारका ओंकाररूप इन्द्र—सम्पूर्ण कामनाओंका स्वामी परमेश्वर मुझे मेधाद्वारा प्रसन्न अथवा सबल करे; इस प्रकार यहाँ बुद्धिबलके लिये प्रार्थना की जाती है ।

हे देव ! मैं अमृत—अमृतत्वके हेतुभूत ब्रह्मज्ञानका धारण करने-वाला होऊँ, क्योंकि यहाँ ब्रह्मज्ञान-का ही प्रसङ्ग है । तथा मेरा शरीर विचर्षण—विचक्षण अर्थात् योग्य हो । [मूलमें 'भूयासम्' (होऊँ) यह उत्तम पुरुषका प्रयोग है इसे] 'भूयात्' (हो) इस प्रकार प्रथम पुरुष-में परिणत कर लेना चाहिये । मेरी

मत्तमा मधुमत्यतिशयेन मधुरभाषिणीत्यर्थः । कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां भूरि बहु विश्रवं व्यश्रवं श्रोता भूयासमित्यर्थः । आत्मज्ञानयोग्यः कार्यकरणसंघातोऽस्त्विति वाक्यार्थः । मेधा च तदर्थमेव हि प्रार्थ्यते ।

जिह्वा मधुमत्तमा—अतिशय मधुमती अर्थात् अत्यन्त मधुरभाषिणी हो । मैं कानोंसे भूरि—अधिक मात्रामें श्रवण करूँ अर्थात् बड़ा श्रोता होऊँ । इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि मेरा शरीर और इन्द्रियसंघात आत्मज्ञानके योग्य हो । तथा उसीके लिये ही बुद्धिकी याचना की जाती है ।

ब्रह्मणः परमात्मनः कोशोऽसि । असेरिवोपलब्ध्यधिष्ठानत्वात् । त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते । मेधया लौकिकप्रज्ञया पिहित आच्छादितः स त्वं सामान्यप्रज्ञैरविदिततत्त्व इत्यर्थः । श्रुतं श्रवणपूर्वकमात्मज्ञानादिकं मे गोपाय रक्ष । तत्प्राप्त्यविस्मरणादि कुर्वित्यर्थः जपार्था एते मन्त्रा मेधाकामस्य ।

परमात्माकी उपलब्धिका स्थान होनेके कारण तू तलवारके कोशके समान ब्रह्म यानी परमात्माका कोश है, क्योंकि तू ब्रह्मका प्रतीक है—तुझमें ब्रह्मकी उपलब्धि होती है । वही तू मेधा अर्थात् लौकिकी बुद्धिसे आच्छादित यानी ढका हुआ है; अर्थात् सामान्य-बुद्धि पुरुषोंको तेरे तत्त्वका ज्ञान नहीं होता । मेरे श्रुत अर्थात् श्रवणपूर्वक आत्मज्ञानादि विज्ञानकी रक्षा कर; अर्थात् उसकी प्राप्ति एवं अविस्मरण आदि कर । ये मन्त्र मेधाकामी पुरुषके जपके लिये हैं ।

होमार्थास्त्वधुना श्रीकामस्य ओङ्कारतः मन्त्रा उच्यन्ते । श्रियः प्रार्थना आवहन्त्यानयन्ती । वितन्वाना विस्तारयन्ती । तनो-

अब लक्ष्मीकामी पुरुषको होमके लिये मन्त्र बतलाये जाते हैं—आवहन्ती—लानेवाली; वितन्वाना—विस्तार करनेवाली, क्योंकि 'तनु'

तेस्तत्कर्मत्वात् । कुर्वाणा निर्वर्तयन्ती, अचीरमचिरं क्षिप्रमेव, छान्दसो दीर्घः; चिरं वा कुर्वाणा आत्मनो मम, किमित्याह—वासांसि वस्त्राणि मम गावश्च गाश्चेति यावत्, अन्नपाने च सर्वदैवमादीनि कुर्वाणा श्रीर्या तां ततो मेधानिर्वर्तनात्परमावहानय । अमेधसो हि श्रीरनर्थायैवेति ।

किंविशिष्टाम् । लोमशामजाव्यादियुक्तामन्यैश्च पशुभिः संयुक्तामावहेत्यधिकारादोङ्कार एवाभिसंबध्यते । स्वाहा स्वाहाकारो होमार्थमन्त्रान्तज्ञापनार्थः । आयन्तु मामिति व्यवहितेन संबन्धः । ब्रह्मचारिणो विमायन्तु प्रमायन्तु दमायन्तु शमायन्त्वित्यादि ॥१-२॥

धातुका अर्थ विस्तार करना ही है; कुर्वाणा—करनेवाली; अचीरम्—अचिर अर्थात् शीघ्र ही; 'अचीरम्' में दीर्घ ईकार वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है । अथवा चिरं (चिरकालतक) आत्मनः—मेरे लिये करनेवाली, क्या करनेवाली? सो बतलाते हैं—मेरे वस्त्र, गौ और अन्न-पान इन्हें जो श्री सदा ही करनेवाली है उसे, बुद्धि प्राप्त करानेके अनन्तर तू मेरे पास ला, क्योंकि बुद्धिहीनके लिये तो लक्ष्मी अनर्थका ही कारण होती है ।

किन विशेषणोंसे युक्त श्रीको लावे? लोमश अर्थात् भेड़-बकरी आदि ऊनवालोंके सहित और अन्य पशुओंसे युक्त श्रीको ला । यहाँ 'आवह' क्रियाका अधिकार होनेके कारण [उसके कर्ता] ओंकारसे ही सम्बन्ध है । स्वाहा—यह स्वाहाकार होमार्थ मन्त्रोंका अन्त सूचित करनेके लिये है । ['आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः' इस वाक्यमें] 'आयन्तु माम्' इस प्रकार 'आ' का व्यवधानयुक्त 'यन्तु' शब्दसे सम्बन्ध है । [इसी प्रकार मेरे प्रति] ब्रह्मचारीलोग निष्कपट हों । वे प्रमाको धारण करें, इन्द्रिय-निग्रह करें, मनोनिग्रह करें, इत्यादि ॥ १-२ ॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा पाहि प्र मा पद्यस्व ॥ ३ ॥

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ—स्वाहा । मैं अत्यन्त प्रशंसनीय और धनवान् होऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! मैं उस ब्रह्मकोशभूत तुझमें प्रवेश कर जाऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! वह तू मुझमें प्रवेश कर—स्वाहा । हे भगवन् ! उस सहस्रशाखायुक्त [अर्थात् अनेकों भेदवाले] तुझमें मैं अपने पापाचरणोंका शोधन करता हूँ—स्वाहा । जिस प्रकार जल निम्न प्रदेशकी ओर जाता है तथा महीने अहर्जर—संवत्सरमें अन्तर्हित हो जाते हैं, उसी प्रकार हे धातः ! ब्रह्मचारीलोग सब ओरसे मेरे पास आवें—स्वाहा । तू [शरणागतोंका] आश्रयस्थान है अतः मेरे प्रति भासमान हो, तू मुझे प्राप्त हो ॥ ३ ॥

यशो यशस्वी जने जनसमूहेऽसानि भवानि । श्रेयान्प्रशस्यतरो वस्यसो वसीयसो वसुतराद्वसुमत्तराद्वासानीत्यन्वयः । किं च तं ब्रह्मणः कोशभूतं त्वा त्वां हे भग भगवन्पूजावन्प्रविशानि प्रविश्य चानन्यस्त्वदात्मैव भवानीत्यर्थः ।

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ तथा श्रेयान्—प्रशस्यतर और वस्यसः—वसीयसः अर्थात् वसुमान्से भी वसुमान् यानी अत्यन्त धनी पुरुषोंसे भी विशेष धनवान् होऊँ । तथा हे भग—भगवन्—पूजनीय ! ब्रह्मके कोशभूत उस तुझमें मैं प्रवेश करूँ; तात्पर्य यह है कि तुझमें प्रवेश करके तुझसे अनन्य हो मैं तेरा ही रूप

स त्वमपि मा मां भग भगवन् प्रविश । आवयोरेकत्वमेवास्तु । तस्मिंस्त्वयि सहस्रशाखे बहुशाखाभेदे हे भगवन्, निमृजे शोधयाम्यहं पापकृत्याम् ।

हो जाऊँ; तथा तू भी, हे भग—भगवन् ! मुझमें प्रवेश कर । अर्थात् हम दोनोंकी एकता ही हो जाय । हे भगवन् ! उस सहस्रशाख—अनेकों शाखाभेदवाले तुझमें मैं अपने पापकर्मोंका शोधन करता हूँ ।

यथा लोक आपः प्रवता प्रवणवता निम्नवता देशेन यन्ति गच्छन्ति । यथा च मासा अहर्जरं संवत्सरोऽहर्जरः । अहोभिः परिवर्तमानो लोकाञ्जरयतीत्यहानि वास्मिञ्जीर्यन्त्यन्तर्भवन्तीत्यहर्जरः । तं च यथा मासा यन्त्येवं मां ब्रह्मचारिणो हे धातः सर्वस्य विधातः मामायन्त्वागच्छन्तु सर्वतः सर्वदिग्भ्यः ।

लोकमें जिस प्रकार जल प्रवणवान्—निम्नतायुक्त देशकी ओर जाते हैं और महीने जिस प्रकार अहर्जरमें अन्तर्हित होते हैं । अहर्जर संवत्सरको कहते हैं, क्योंकि वह अहः—दिनोंके रूपमें परिवर्तित होता हुआ लोकोंको जीर्ण करता है अथवा उसमें अहः—दिन जीर्ण यानी अन्तर्भूत होते हैं इसलिये वह अहर्जर है । उस संवत्सरमें जिस प्रकार महीने जाते हैं उसी प्रकार हे धातः ! मेरे पास सब ओरसे—सम्पूर्ण दिशाओंसे ब्रह्मचारीलोग आवें ।

प्रतिवेशः—श्रमापनयनस्थानमासन्नगृहमित्यर्थः । एवं त्वं प्रतिवेश इव प्रतिवेशस्त्वच्छीलिनां सर्वपापदुःखापनयनस्थानमसि, अतो मा मां प्रति प्रभाहि प्रकाशयात्मानं प्रपद्यस्व च ।

'प्रतिवेश' श्रमनिवृत्तिके स्थान अर्थात् समीपवर्ती गृहको कहते हैं । इस प्रकार तू प्रतिवेशके समान प्रतिवेश यानी अपना अनुशीलन करनेवालोंका दुःखनिवृत्तिका स्थान है । अतः तू मेरे प्रति अपनेको प्रकाशित कर और मुझे प्राप्त हो; अर्थात्

मां रसविद्धमिव लोहं त्वन्मयं त्वदात्मानं कुर्वित्यर्थः ।

श्रीकामोऽस्मिन्विद्याप्रकरणेऽभिधीयमानो धनार्थः । धनं च कर्मार्थम् । कर्म चोपात्तदुरितक्षयाय । तत्क्षये हि विद्या प्रकाशते । तथा च स्मृतिः "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथादर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि" (महा० शा० २०४ । ८, गरुड० १ । २३७ । ६) इति ॥ ३ ॥

विद्योपलब्धौ धनस्योपयोगः

पारदसंयुक्त लोहेके समान तू मुझे अपनेसे अभिन्न कर ले ।

इस ज्ञानके प्रकरणमें जो लक्ष्मी-की कामना कही जाती है वह धनके लिये है, धन कर्मके लिये होता है, और कर्म प्राप्त हुए पापोंके क्षयके लिये है । उनके क्षीण होनेपर ही ज्ञानका प्रकाश होता है; जैसा कि यह स्मृति भी कहती है—"पाप-कर्मोंका क्षय हो जानेपर ही पुरुष-को ज्ञान होता है । जिस प्रकार दर्पणके स्वच्छ हो जानेपर उसमें मुख देखा जा सकता है उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार होता है" ॥ ३ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासना

संहिताविषयमुपासनमुक्तं तदनु मेधाकामस्य श्रीकामस्य मन्त्रा अनुक्रान्ताः । ते च पारम्पर्येण विद्योपयोगार्था एव । अनन्तरं व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽन्तरुपासनं स्वाराज्यफलं प्रस्तूयते—

पहले संहितासम्बन्धिनी उपासनाका वर्णन किया गया । तत्पश्चात् मेधाकी कामनावाले तथा श्रीकामी पुरुषोंके लिये मन्त्र बतलाये गये । वे भी परम्परासे ज्ञानके उपयोगके लिये ही हैं । उसके पश्चात् अब जिसका फल स्वाराज्य है उस व्याहृतिरूप ब्रह्मकी आन्तरिक उपासनाका आरम्भ किया जाता है—

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः ॥ १ ॥

मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूꣳषि ॥ २ ॥

महइति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

'भूः, भुवः और सुवः' ये तीन व्याहृतियाँ हैं । उनमेंसे 'महः' इस चौथी व्याहृतिको माहाचमस्य (महाचमसका पुत्र) जानता है । वह महः ही ब्रह्म है । वही आत्मा है । अन्य देवता उसके अङ्ग (अवयव) हैं । 'भूः' यह व्याहृति यह लोक है, 'भुवः' अन्तरिक्षलोक है और 'सुवः' यह स्वर्गलोक है ॥ १ ॥ तथा 'महः' आदित्य है । आदित्यसे ही समस्त लोक वृद्धिको प्राप्त होते हैं । 'भूः' यही अग्नि है, 'भुवः' वायु है, 'सुवः' आदित्य है तथा 'महः' चन्द्रमा है । चन्द्रमासे ही सम्पूर्ण ज्योतियाँ वृद्धिको प्राप्त होती हैं । 'भूः' यही ऋक् है, 'भुवः' साम है, 'सुवः' यजुः है ॥ २ ॥ तथा 'महः' ब्रह्म है । ब्रह्मसे ही समस्त वेद वृद्धिको प्राप्त होते हैं । 'भूः' यही प्राण है, 'भुवः' अपान है, 'सुवः' व्यान है तथा 'महः' अन्न है । अन्नसे ही समस्त प्राण वृद्धिको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार ये चार व्याहृतियाँ हैं । इनमेंसे प्रत्येक चार-चार प्रकारकी है । जो इन्हें जानता है वह ब्रह्मको जानता है । सम्पूर्ण देवगण उसे बलि (उपहार) समर्पण करते हैं ॥ ३ ॥

व्याहृतिचतुष्टयम्

भूर्भुवःसुवरिति; इतीत्युक्तोपप्रदर्शनार्थः । एतास्तिस्र इति च प्रदर्शितानां परामर्शार्थः । परामृष्टाः

'भूर्भुवः सुवरिति' इसमें 'इति' शब्द पूर्वकथित [व्याहृतियों] को ही प्रदर्शित करनेके लिये है; 'एतास्तिस्रः' ये शब्द भी पूर्व-प्रदर्शित [व्याहृतियों] के ही परामर्शके लिये हैं । 'वै' इस

स्मार्यन्ते वा इत्यनेन। तिस्र एताः प्रसिद्धा व्याहृतयः स्मार्यन्ते तावत्। तासामियं चतुर्थी व्याहृतिर्मह इति। तामेतां चतुर्थीं महाचमसस्यापत्यं माहाचमस्यः प्रवेदयते। उ ह स्म इत्येतेषां वृत्तानुकथनार्थत्वाद्विदितवान्ददर्शेत्यर्थः। माहाचमस्यग्रहणमार्षानुस्मरणार्थम्। ऋषिस्मरणमप्युपासनाङ्गमिति गम्यत इहोपदेशात्।

अव्ययसे परामृष्ट व्याहृतियोंका स्मरण कराया जाता है। अर्थात् [इन शब्दोंसे] ये तीन प्रसिद्ध व्याहृतियाँ स्मरण दिलायी जाती हैं। उनमें 'महः' यह चौथी व्याहृति है। उस इस चौथी व्याहृतिको महाचमसका पुत्र माहाचमस्य जानता है। किन्तु 'उ ह स्म' ये तीन निपात अतीत घटनाका अनुकथन करनेके लिये होनेके कारण इसका अर्थ 'जानता था' 'देखा था' इस प्रकार होगा। [व्याहृतिके द्रष्टा] ऋषिका अनुस्मरण करनेके लिये 'माहाचमस्य' यह नाम लिया गया है। इस प्रकार यहाँ उपदेश होनेके कारण यह जाना जाता है कि ऋषिका अनुस्मरण भी उपासनाका एक अङ्ग है।

व्याहृतिषु महसः प्राधान्यम्

येयं माहाचमस्येन दृष्टा व्याहृतिर्मह इति तद्ब्रह्म। महद्धि ब्रह्म महश्च व्याहृतिः। किं पुनस्तत्? स आत्मा। आप्नोतेर्व्याप्तिकर्मणः आत्मा।

जिस 'महः' नामक व्याहृतिको माहाचमस्यने देखा था वह ब्रह्म है। ब्रह्म भी महान् है और व्याहृति भी महः है। और वह क्या है? वही आत्मा है। 'व्याप्ति' अर्थवाले 'आप्' धातुसे 'आत्मा' शब्द निष्पन्न होता है। क्योंकि लोक,

इतराश्च व्याहृतयो लोका देवा वेदाः प्राणाश्च मह इत्यनेन व्याहृत्यात्मनादित्यचन्द्रब्रह्मान्नभूतेन व्याप्यन्ते यतः अतोऽङ्गान्यवयवा अन्या देवताः। देवताग्रहणमुपलक्षणार्थं लोकादीनाम्। मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो देवलोकादयः सर्वेऽवयवभूता यतोऽत आहादित्यादिभिर्लोकादयो महीयन्ते इति। आत्मनो ह्यङ्गानि महीयन्ते, महनं वृद्धिरुपचयः। महीयन्ते वर्धन्त इत्यर्थः।

देव, वेद और प्राणरूप अन्य व्याहृतियाँ आदित्य, चन्द्र, ब्रह्म एवं अन्नस्वरूप व्याहृत्यात्मक महःसे व्याप्त हैं, इसलिये वे अन्य देवता इसके अंग—अवयव हैं। यहाँ लोकादिका उपलक्षण करानेके लिये 'देवता' शब्दका ग्रहण किया गया है। क्योंकि देव और लोक आदि सभी 'महः' इस व्याहृत्यात्माके अवयवस्वरूप हैं, इसीलिये ऐसा कहा है कि आदित्यादिके योगसे लोकादि महत्ताको प्राप्त होते हैं। आत्मासे ही अङ्ग महत्ताको प्राप्त हुआ करते हैं। 'महन' शब्दका अर्थ वृद्धि—उपचय है। अतः 'महीयन्ते' इसका 'वृद्धिको प्राप्त होते हैं' यह अर्थ है।

प्रतिव्याहृति चत्वारो भेदाः

अयं लोकोऽग्निर्ऋग्वेदः प्राण इति प्रथमा व्याहृतिर्भूरिति। एवमुत्तरोत्तरैकैका चतुर्धा भवति। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मेत्योङ्कारः, शब्दाधिकारेऽन्यस्यासंभवात्। उक्तार्थमन्यत्।

यह लोक, अग्नि, ऋग्वेद और प्राण—ये पहली व्याहृति भूः हैं; इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक व्याहृति चार-चार प्रकारकी है।* 'महः' ब्रह्म है; ब्रह्मका अर्थ ओंकार है, क्योंकि शब्दके प्रकरणमें अन्य किसी ब्रह्मका होना असम्भव है। शेष सबका अर्थ पहले कहा जा चुका है।

* यथा अन्तरिक्षलोक, वायु, सामवेद और अपान—ये दूसरी व्याहृति भुवः हैं; द्युलोक, आदित्य, यजुर्वेद और व्यान—ये तीसरी व्याहृति सुवः हैं, तथा आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न—ये चौथी व्याहृति महः हैं।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धेति । ता वा एता भूर्भुवः सुवर्मह इति चतस्र एकैकशश्चतुर्धा चतुष्प्रकाराः । धाशब्दः प्रकारवचनः । चतस्रश्चतस्रः सत्यश्चतुर्धा भवन्तीत्यर्थः । तासां यथाक्लृप्तानां पुनरुपदेशस्तथैवोपासननियमार्थः। ता यथोक्तव्याहृतीर्यो वेद स वेद विजानाति । किम् ? ब्रह्म ।

वे ये चारों व्याहृतियाँ चार प्रकारकी हैं । अर्थात् वे ये भूः, भुवः, सुवः और महः चार व्याहृतियाँ प्रत्येक चार-चार प्रकारकी हैं । 'धा' शब्द 'प्रकार' का वाचक है । अर्थात् वे चार-चार होती हुई चार प्रकारकी हैं । उनकी जिस प्रकार पहले कल्पना की गयी है उसी प्रकार उपासना करनेका नियम करनेके लिये उनका पुनः उपदेश किया गया है । उन उपर्युक्त व्याहृतियोंको जो पुरुष जानता है वही जानता है । किसे जानता है ? ब्रह्मको ।

ननु "तद्ब्रह्म स आत्मा" इति ज्ञाते ब्रह्मणि न वक्तव्यमविज्ञातवत्स वेद ब्रह्मेति ।

शंका—"वह ब्रह्म है, वह आत्मा है" इस वाक्यद्वारा [महःरूपसे] ब्रह्मको जान लेनेपर भी उसे न जाननेके समान '[उसे जो जानता है] वह ब्रह्मको जानता है' ऐसा कहना तो ठीक नहीं है ।

पञ्चमषष्ठानुवाकयोरेकवाक्यता

न; तद्विशेषविवक्षुत्वाददोषः। सत्यं विज्ञातं चतुर्थव्याहृत्यात्मा ब्रह्मेति न तु तद्विशेषो हृदयान्तरुपलभ्यत्वं मनोमयत्वादिश्च ।

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उस [ब्रह्मविषयक ज्ञान] के विषयमें विशेष कहना अभीष्ट होनेके कारण इस प्रकार कहनेमें कोई दोष नहीं है । यह ठीक है कि इतना तो जान लिया कि चतुर्थ व्याहृतिरूप ब्रह्म है; किन्तु हृदयके भीतर उपलब्ध होना तथा मनोमयत्वादिरूप उसकी विशेषताओंका

'शान्तिसमृद्धम्' इत्येवमन्तो विशेषणविशेष्यरूपो धर्मपूगो न विज्ञायत इति तद्विवक्षु हि शास्त्रमविज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा स वेद ब्रह्मेत्याह । अतो न दोषः । यो हि वक्ष्यमाणेन धर्मपूगेन विशिष्टं ब्रह्म वेद स वेद ब्रह्मेत्यभिप्रायः । अतो वक्ष्यमाणानुवाकेनैकवाक्यतास्य; उभयोर्ह्यनुवाकयोरेकमुपासनम् ।

लिङ्गाच्च, भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठतीत्यादिकं लिङ्गमुपासनैकत्वे । विधायकाभावाच्च । न हि 'वेद' 'उपासितव्यः' इति विधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । व्याहृत्यनुवाके 'ता यो वेद' इति च

तो ज्ञान नहीं हुआ । [अगले अनुवाकमें] 'शान्तिसमृद्धम्' इस वाक्यतक कहा हुआ विशेषण-विशेष्यरूप धर्म-समूह ज्ञात नहीं है; उसे बतलानेकी इच्छासे ही शास्त्रने ब्रह्मको न जाने हुएके समान मानकर 'वह ब्रह्मको जानता है' ऐसा कहा है । इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि जो पुरुष आगे बतलाये जानेवाले धर्मसमूहसे विशिष्ट ब्रह्मको जानता है वही ब्रह्मको जानता है । अतः आगे कहे जानेवाले अनुवाकसे इसकी एकवाक्यता है क्योंकि इन दोनों अनुवाकोंकी एक ही उपासना है ।

[ज्ञापक] लिङ्ग होनेसे भी यही बात सिद्ध होती है । [छठे अनुवाकमें] 'भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति' इत्यादि फलश्रुति इन दोनों अनुवाकोंमें एक ही उपासना होनेका लिङ्ग है । कोई विधान करनेवाला शब्द न होनेके कारण भी ऐसा ही समझा जाता है । [छठे अनुवाकमें] 'वेद' 'उपासितव्यः' ऐसा कोई [उपासनाका] विधान करनेवाला शब्द नहीं है । व्याहृति-अनुवाकमें जो 'उन (व्याहृतियों) को जो जानता है' ऐसा वाक्य है वह

वक्ष्यमाणार्थत्वान्नोपासनभेदकः। वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषविवक्षुत्वादित्यादिनोक्तम् । सर्वे देवा अस्मा एवं विदुषेऽङ्गभूता आवहन्त्यानयन्ति बलिं स्वाराज्यप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ १-३ ॥

आगे बतलायी जानेवाली उपासनाके लिये होनेके कारण [पूर्वोक्त उपासनासे] उसका भेद करनेवाला नहीं है । उसी उपासनाको आगे बतलाना क्यों इष्ट है यह बात 'उसकी विशेषता बतलानेकी इच्छा होनेके कारण' आदि हेतुओंसे पहले कह ही चुके हैं । ऐसा जाननेवाले उपासकको उसके अङ्गभूत समस्त देवगण बलि (उपहार) समर्पण करते हैं अर्थात् स्वाराज्यकी प्राप्ति हो जानेपर उसके लिये उपहार लाते हैं—यह इसका तात्पर्य है॥ १-३॥

इति शीक्षावल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

ब्रह्मके साक्षात् उपलब्धिस्थान हृदयाकाशका वर्णन

भूर्भुवःसुवःस्वरूपा मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽङ्गान्यन्या देवता इत्युक्तम् । यस्य ता अङ्गभूतास्तस्यैतस्य ब्रह्मणः साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च हृदयाकाशः स्थानमुच्यते शालग्राम इव विष्णोः । तस्मिन्हि तद्ब्रह्मोपास्यमानं मनोमयत्वादि-

भूः, भुवः और सुवः—ये अन्य देवता 'महः' इस व्याहृतिरूप हिरण्यगर्भसंज्ञक ब्रह्मके अङ्ग हैं—ऐसा पहले कहा जा चुका है । जिसके वे अङ्गभूत हैं उस इस ब्रह्मकी साक्षात् उपलब्धि और उपासनाके लिये हृदयाकाश स्थान बतलाया जाता है, जैसे कि विष्णुके लिये शालग्राम । उसमें उपासना किये जानेपर ही वह मनोमयत्वादिधर्मविशिष्ट

धर्मविशिष्टं साक्षादुपलभ्यते पाणाविवामलकम् । मार्गश्च सर्वात्मभावप्रतिपत्तये वक्तव्य इत्यनुवाक आरभ्यते—

ब्रह्म हथेलीपर रखे हुए आँवलेके समान साक्षात् उपलब्ध होता है। इसके सिवा सर्वात्मभावकी प्राप्तिके लिये मार्ग भी बतलाना है, इसलिये इस अनुवाकका आरम्भ किया जाता है—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ ॥ १ ॥

सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥ २ ॥

यह जो हृदयके मध्यमें स्थित आकाश है उसमें ही यह मनोमय अमृतस्वरूप हिरण्मय पुरुष रहता है। तालुओंके बीचमें और [उनके मध्य] यह जो स्तनके समान [मांसखण्ड] लटका हुआ है [उसमें होकर जो सुषुम्ना नाडी] जहाँ केशोंका मूलभाग विभक्त होकर रहता है उस मूर्धप्रदेशमें मस्तकके कपालोंको विदीर्ण करके निकल गयी है वह इन्द्रयोनि [अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग] है। [इस प्रकार उपासना करनेवाला पुरुष प्राणप्रयाणके समय मूर्धाका भेदन कर] 'भूः' इस व्याहृतिरूप अग्निमें स्थित होता है [अर्थात् 'भूः' इस व्याहृतिका चिन्तन करनेसे अग्निरूप होकर इस लोकको व्याप्त करता है]। इसी प्रकार 'भुवः' इस

व्याहृतिका ध्यान करनेसे वायुमें ॥ १ ॥ 'सुवः' इस व्याहृतिका चिन्तन करनेसे आदित्यमें तथा 'महः' की उपासना करनेसे ब्रह्ममें स्थित हो जाता है। इस प्रकार वह स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है तथा मनके पति (ब्रह्म) को पा लेता है। तथा वाणीका पति, चक्षुका पति, श्रोत्रका पति और सारे विज्ञानका पति हो जाता है। यही नहीं, इससे भी बड़ा हो जाता है। वह आकाशशरीर, सत्यस्वरूप, प्राणाराम, मनआनन्द (जिसके लिये मन आनन्दस्वरूप है), शान्तिसम्पन्न और अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीनयोग्य शिष्य ! तू इस प्रकार [उस ब्रह्मकी] उपासना कर ॥ २ ॥

हृदयाकाशतत्स्थजीवयोः स्वरूपम्

'सः' इति व्युत्क्रम्य 'अयं पुरुषः' इत्यनेन संबध्यते। य एषोऽन्तर्हृदये हृदयस्यान्तर्हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्राणायतनोऽनेकनाडीसुषिर ऊर्ध्वनालोऽधोमुखो विशस्यमाने पशौ प्रसिद्ध उपलभ्यते। तस्यान्तर्य एष आकाशः प्रसिद्ध एव करकाकाशवत्, तस्मिन्सोऽयं पुरुषः। पुरि शयनात्पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुषः। मनोमयो

'सः' इस पहले पदका, पाठक्रमको छोड़कर आगेके 'अयं पुरुषः' इस पदसे सम्बन्ध है। जो यह अन्तर्हृदयमें—हृदयके भीतर [आकाश है]। हृदय अर्थात् श्वेत कमलके आकारवाला मांसपिण्ड, जो प्राणका आश्रय, अनेकों नाडियोंके छिद्रवाला तथा ऊपरको नाल और नीचेको मुखवाला है, जो कि पशुका आलभन (वध) किये जानेपर स्पष्टतया उपलब्ध होता है। उसके भीतर जो यह कमण्डलुके अन्तर्वर्ती आकाशके समान प्रसिद्ध आकाश है उसीमें यह पुरुष रहता है; जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण अथवा उसने भूः आदि सम्पूर्ण लोकोंको पूरित किया हुआ है इसलिये 'पुरुष' कहलाता है। वह मनोमय

मनो विज्ञानम् मनुतेर्ज्ञान-कर्मणः; तन्मयस्तत्प्रायस्तदुपलभ्यत्वात् । मनुतेऽनेनेति वा मनोऽन्तःकरणं तदभिमानी तन्मयस्तल्लिङ्गो वा; अमृतोऽमरणधर्मा हिरण्मयो ज्योतिर्मयः ।

—ज्ञानवाची 'मन्' धातुसे सिद्ध होनेके कारण 'मन' शब्दका अर्थ 'विज्ञान' है, तन्मय—तत्प्राय अर्थात् विज्ञानमय है क्योंकि उस (विज्ञानस्वरूप) से ही वह उपलब्ध होता है; अथवा जिसके द्वारा जीव मनन करता है वह अन्तःकरण ही 'मन' है उसका अभिमानी, तन्मय अथवा उससे उपलक्षित होनेवाला अमृत—अमरणधर्मा और हिरण्मय—ज्योतिर्मय है ।

हृदयाकाशस्थ-जीवोपलब्धये मार्गः

तस्यैवंलक्षणस्य हृदयाकाशे साक्षात्कृतस्य विदुष आत्मभूतस्येन्द्रस्येश्वरस्य स्वरूपप्रतिपत्तये मार्गोऽभिधीयते । हृदयादूर्ध्वं प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाडी योगशास्त्रेषु च प्रसिद्धा । सा चान्तरेण मध्ये प्रसिद्धे तालुके तालुकयोर्गता । यश्चैष तालुकयोर्मध्ये स्तन इवावलम्बते मांसखण्डस्तस्य चान्तरेणेत्येतत् । यत्र च केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं मूलं केशान्तो विवर्तते विभागेन वर्तते मूर्धप्रदेश इत्यर्थः; तं देशं प्राप्य तत्र विनिःसृता व्यपोह्य विभज्य विदार्य शीर्षकपाले

हृदयाकाशमें साक्षात्कार किये हुए उस ऐसे लक्षणोंवाले तथा विद्वान्के आत्मभूत इन्द्र (ईश्वर) के ऐसे स्वरूपकी प्राप्तिके लिये मार्ग बतलाया जाता है—हृदयदेशसे ऊपरकी ओर जानेवाली सुषुम्ना नामकी नाडी योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है । वह 'अन्तरेण तालुके' अर्थात् दोनों तालुओंके बीचमें होकर गयी है । और तालुओंके बीचमें यह जो स्तनके समान मांसखण्ड लटका हुआ है उसके भी बीचमें होकर गयी है । तथा जहाँ यह केशान्त—केशोंके मूलभागका नाम 'केशान्त' है वह जिस स्थानपर विभक्त होता है अर्थात् जो मूर्धप्रदेश है, उस स्थानमें पहुँचकर जो निकल गयी है, अर्थात् जो शीर्षकपालों—मस्तकके कपालोंको

शिरःकपाले विनिर्गता या सेन्द्रयोनिरिन्द्रस्य ब्रह्मणो योनिर्मार्गः स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः ।

पार—विभक्त यानी विदीर्ण करती हुई बाहर निकल गयी है वही इन्द्रयोनि—इन्द्र अर्थात् ब्रह्मकी योनि—मार्ग यानी ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिका द्वार है ।

सुषुम्नाद्वारा चतुर्व्याहृतिरूप-ब्रह्मप्राप्तिः

तयैवं विद्वान्मनोमयात्मदर्शी मूर्ध्नो विनिष्क्रम्यास्य लोकस्याधिष्ठाता भूरिति व्याहृतिरूपो योऽग्निर्महतो ब्रह्मणोऽङ्गभूतस्तस्मिन्नग्नौ प्रतितिष्ठत्यग्न्यात्मनेमं लोकं व्याप्नोतीत्यर्थः । तथा भुव इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि वायौ । प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते । सुवरिति तृतीयव्याहृत्यात्मन्यादित्ये । मह इत्यङ्गिनि चतुर्थव्याहृत्यात्मनि ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति ।

इस प्रकार उस सुषुम्ना नाडीद्वारा जाननेवाला अर्थात् मनोमय आत्माका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष मूर्धद्वारसे निकलकर इस लोकका अधिष्ठाता जो महान् ब्रह्मका अङ्गभूत 'भूः' ऐसा व्याहृतिरूप अग्नि है उस अग्निमें स्थित हो जाता है; अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोकको व्याप्त कर लेता है । इसी प्रकार वह 'भुवः' इस द्वितीय व्याहृतिरूप वायुमें स्थित हो जाता है—इस प्रकार 'प्रतितिष्ठति' इस क्रियाकी अनुवृत्ति की जाती है । तथा [ऐसे ही] 'सुवः' इस तृतीय व्याहृतिरूप आदित्यमें और 'महः' इस चतुर्थव्याहृतिरूप अङ्गी ब्रह्ममें स्थित होता है ।

ब्रह्मीभूतस्य विदुष ऐश्वर्यम्

तेष्वात्मभावेन स्थित्वाप्नोति ब्रह्मभूतः स्वाराज्यं स्वराड्भावं स्वयमेव राजाधिपतिर्भवति । अङ्गभूतानां देवानां यथा ब्रह्म । देवाश्च

उनमें आत्मस्वरूपसे स्थित हो वह ब्रह्मभूत हुआ स्वाराज्य—स्वराड्भावको प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म अङ्गभूत देवताओंका अधिपति है उसी प्रकार स्वयं उनका राजा—अधिपति हो जाता है । तथा उसके

सर्वेऽस्मै बलिमावहन्त्यङ्गभूता यथा ब्रह्मणे । आप्नोति मनसस्पतिम् । सर्वेषां हि मनसां पतिः सर्वात्मकत्वाद्ब्रह्मणः । सर्वैर्हि मनोभिस्तन्मनुते । तदाप्नोत्येवं विद्वान् । किं च वाक्पतिः सर्वासां वाचां पतिर्भवति । तथैव चक्षुष्पतिश्चक्षुषां पतिः । श्रोत्रपतिः श्रोत्राणां पतिः । विज्ञानपतिर्विज्ञानानां च पतिः । सर्वात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां करणैस्तद्वान्भवतीत्यर्थः ।

अङ्गभूत देवगण जिस प्रकार ब्रह्मको उसी प्रकार इस अपने अङ्गीके लिये उपहार लाते हैं । तथा वह मनस्पतिको प्राप्त हो जाता है । ब्रह्म सर्वात्मक होनेके कारण सम्पूर्ण मनोंका पति है, वह सारे ही मनोंद्वारा मनन करता है । इस प्रकार उपासनाद्वारा विद्वान् उसे प्राप्त कर लेता है । यही नहीं, वह वाक्पति—सम्पूर्ण वाणियोंका पति हो जाता है, तथा चक्षुष्पति—नेत्रोंका स्वामी, श्रोत्रपति—कानोंका स्वामी और विज्ञानपति—विज्ञानोंका स्वामी हो जाता है । तात्पर्य यह है कि सर्वात्मक होनेके कारण वह समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियोंसे इन्द्रियवान् होता है ।

किं च ततोऽप्यधिकतरमेतद्भवति । किं तत् ? उच्यते । आकाशशरीरमाकाशः शरीरमस्याकाशवद्वा सूक्ष्मं शरीरमस्येत्याकाशशरीरम् । किं तत् ? प्रकृतं ब्रह्म । सत्यात्म सत्यं मूर्तामूर्तमवितथं स्वरूपं चात्मा स्वभावोऽस्य तदिदं सत्यात्म । प्राणारामं प्राणेष्वा-

यही नहीं, वह तो इससे भी बड़ा हो जाता है । सो क्या ? बतलाते हैं—आकाशशरीर—आकाश जिसका शरीर है अथवा आकाशके समान जिसका सूक्ष्म शरीर है वही आकाशशरीर है । वह है कौन ? प्रकृत ब्रह्म [अर्थात् वह ब्रह्म जिसका यहाँ प्रकरण है] । सत्यात्म—जिसका मूर्तामूर्तरूप सत्य अर्थात् अमिथ्या 'सत्यात्म' कहते हैं । प्राणाराम—

राम आक्रीडा यस्य तत्प्राणारामम् । प्राणानां वारामो यस्मिंस्तत्प्राणारामम् । मनआनन्दम् ; आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य मनस्तन्मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धं शान्तिरुपशमः, शान्तिश्च तत्समृद्धं च शान्तिसमृद्धम् । शान्त्या वा समृद्धं तदुपलभ्यत इति शान्तिसमृद्धम् । अमृतममरणधर्मि । एतच्चाधिकरणविशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ द्रष्टव्यमिति । एवं मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टं यथोक्तं ब्रह्म हे प्राचीनयोग्य, उपास्स्वेत्याचार्यवचनोक्तिरादरार्था । उक्तस्तूपासनाशब्दार्थः ॥ १-२ ॥

प्राणोंमें जिसका रमण अर्थात् क्रीडा है अथवा जिसमें प्राणोंका आरमण है उसे प्राणाराम कहते हैं । मन-आनन्दम्—जिसका मन आनन्दभूत अर्थात् सुखकारी ही है वह मन-आनन्द कहलाता है । शान्तिसमृद्धम्—शान्ति उपशमको कहते हैं, जो शान्ति भी है और समृद्ध भी वह शान्तिसमृद्ध है अथवा शान्तिके द्वारा उस समृद्ध ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, इसलिये उसे शान्तिसमृद्ध कहते हैं । अमृत—अमरणधर्मी । ये अधिकरणमें आये हुए विशेषण उस मनोमय आदिमें ही जानने चाहिये । इस प्रकार मनोमयत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट उपर्युक्त ब्रह्मकी, हे प्राचीन-योग्य ! तू उपासना कर—यह आचार्यकी उक्ति [उपासनाके] आदरके लिये है । 'उपासना' शब्दका अर्थ तो पहले बतलाया ही जा चुका है ॥ १-२ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

पाङ्क्तरूपसे ब्रह्मकी उपासना

यदेतद्व्याहृत्यात्मकं ब्रह्मोपास्यमुक्तं तस्यैवेदानीं पृथिव्यादिपाङ्क्तस्वरूपेणोपासनमुच्यते । पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्तिच्छन्दः- संपत्तिः । ततः पाङ्क्तत्वं सर्वस्य । पाङ्क्तश्च यज्ञः । "पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः" इति श्रुतेः । तेन यत्सर्वं लोकाद्यात्मान्तं च पाङ्क्तं परिकल्पयति यज्ञमेव तत्परिकल्पयति । तेन यज्ञेन परिकल्पितेन पाङ्क्तात्मकं प्रजापतिमभिसंपद्यते । तत्कथं पाङ्क्तमिदं सर्वमित्यत आह—

यह जो व्याहृतिरूप उपास्य ब्रह्म बतलाया गया है अब पृथिवी आदि पाङ्क्तरूपसे उसीकी उपासनाका वर्णन किया जाता है—[पृथिवी आदि पाँच-पाँच संख्यावाले पदार्थ हैं तथा पङ्क्ति छन्द भी पाँच पदोंवाला है, अतः]'पाँच' संख्याका योग होनेसे [उन पृथिवी आदिसे] पङ्क्तिछन्द सम्पन्न होता है। इसीसे उन सबका पाङ्क्तत्व है। यज्ञ भी पाङ्क्त है, जैसा कि "पङ्क्तिछन्द पाँच पदोंवाला है, यज्ञ पाङ्क्त है" इस श्रुतिसे ज्ञात होता है। अतः जो लोकसे लेकर आत्मापर्यन्त सबको पाङ्क्तरूपसे कल्पना करता है वह यज्ञकी ही कल्पना करता है। उस कल्पना किये हुए यज्ञसे वह पाङ्क्तस्वरूप प्रजापतिको प्राप्त हो जाता है। अच्छा तो यह सब किस प्रकार पाङ्क्त है ? सो अब बतलाते हैं—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय

आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मा॰ंस॰ंस्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इद॰ंसर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त॰ंस्पृणोतीति ॥ १ ॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ [—यह लोकपाङ्क्त]; अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र [—यह देवतापाङ्क्त] तथा आप, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा—ये अधिभूतपाङ्क्त हैं । अब अध्यात्मपाङ्क्त बतलाते हैं—प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान [—यह वायुपाङ्क्त]; चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वचा [—यह इन्द्रियपाङ्क्त] तथा चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा [—यह धातुपाङ्क्त—ये सब मिलाकर अध्यात्मपाङ्क्त हैं] । इस प्रकार पाङ्क्तोपासनाका विधानकर ऋषिने कहा—'यह सब पाङ्क्त ही है; इस [आध्यात्मिक] पाङ्क्तसे ही उपासक [बाह्य] पाङ्क्तको पूर्ण करता है ॥ १ ॥

त्रिविध-भूतपाङ्क्तम्

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिश इति लोकपाङ्क्तम् । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणीति देवतापाङ्क्तम् । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मेति भूतपाङ्क्तम् । आत्मेति विराड् भूताधिकारात् । इत्यधिभूतमि-

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ—ये लोकपाङ्क्त हैं; अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये देवतापाङ्क्त हैं; जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा—ये भूतपाङ्क्त हैं । यहाँ 'आत्मा' विराट्को कहा है, क्योंकि यह भूतोंका अधिकरण है । 'इत्यधिभूतम्' यह वाक्य अधिलोक और

त्यधिलोकाधिदैवतपाङ्क्तद्वयोपलक्षणार्थम् । लोकदेवतापाङ्क्तयोश्चाभिहितत्वात् ।

अथानन्तरमध्यात्मं पाङ्क्तत्रयमुच्यते—प्राणादि वायुपाङ्क्तम् । चक्षुरादीन्द्रियपाङ्क्तम् । चर्मादि धातुपाङ्क्तम् । एतावद्धीदं सर्वमध्यात्मम्, बाह्यं च पाङ्क्तमेवेत्येतदेवमधिविधाय परिकल्प्यर्षिर्वेद एतद्दर्शनसंपन्नो वा कश्चिदृषिरवोचदुक्तवान् । किमित्याह—पाङ्क्तं वा इदं सर्वं पाङ्क्तेनैवाध्यात्मिकेन संख्यासामान्यात्पाङ्क्तं बाह्यं स्पृणोति बलयति पूरयति । एकात्मतयोपलभ्यत इत्येतत् । एवं पाङ्क्तमिदं सर्वमिति यो वेद स प्रजापत्यात्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

त्रिविधाध्यात्मपाङ्क्तम्

अधिदैवत—इन दो पाङ्क्तोंका भी उपलक्षण करानेके लिये है, क्योंकि इनमें लोक और देवतासम्बन्धी दो पाङ्क्तोंका भी वर्णन किया गया है ।

अब आगे तीन अध्यात्मपाङ्क्तोंका वर्णन किया जाता है—प्राणादि वायुपाङ्क्त, चक्षु आदि इन्द्रियपाङ्क्त और चर्मादि धातुपाङ्क्त—बस ये इतने ही अध्यात्म और बाह्य पाङ्क्त हैं । इनका इस प्रकार विधान अर्थात् कल्पना करके ऋषि—वेद अथवा इस दृष्टिसे सम्पन्न किसी ऋषिने कहा । क्या कहा ? सो बतलाते हैं—निश्चय ही यह सब पाङ्क्त ही है । आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही, संख्यामें समानता होनेके कारण उपासक बाह्यपाङ्क्तको बलवान्—पूरित करता है अर्थात् उसके साथ एकरूपसे उपलब्ध करता है । इस प्रकार 'यह सब पाङ्क्त है' ऐसा जो पुरुष जानता है वह प्रजापतिस्वरूप ही हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ओङ्कारोपासनाका विधान

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपासनमुक्तम्। अनन्तरं च पाङ्क्तस्वरूपेण तस्यैवोपासनमुक्तम्। इदानीं सर्वोपासनाङ्गभूतस्योङ्कारस्योपासनं विधित्स्यते। परापरब्रह्मदृष्ट्या उपास्यमान ओङ्कारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनं भवति। स ह्यालम्बनं ब्रह्मणः परस्यापरस्य च, प्रतिमेव विष्णोः। "एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" (प्र० उ० ५। २) इति श्रुतेः।

व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासनाका निरूपण किया गया; उसके पश्चात् उसीकी उपासनाका पाङ्क्तरूपसे वर्णन किया। अब सम्पूर्ण उपासनाओंके अङ्गभूत ओंकारकी उपासनाका विधान करना चाहते हैं। पर एवं अपर ब्रह्मदृष्टिसे उपासना किये जानेपर ओंकार—केवल शब्दमात्र होनेपर भी पर और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन होता है। वही पर और अपर ब्रह्मका आलम्बन है, जिस प्रकार कि विष्णुका आलम्बन प्रतिमा है। "इसी आलम्बनसे उपासक [पर या अपर] किसी एक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है" इस श्रुतिसे यही बात प्रमाणित होती है।

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥

'ॐ' यह शब्द ब्रह्म है, क्योंकि 'ॐ' यह सर्वरूप है; 'ॐ' यह अनुकृति (अनुकरण—सम्मतिसूचक संकेत) है—ऐसा प्रसिद्ध है। [याज्ञिकलोग] "ओ श्रावय" ऐसा कहकर श्रवण कराते हैं। 'ॐ' ऐसा कहकर सामगान करते हैं। 'ॐ शोम्' ऐसा कहकर शस्त्रों (गीति-रहित ऋचाओं) का पाठ करते हैं। अध्वर्यु प्रतिगर (प्रत्येक कर्म) के प्रति ॐ ऐसा उच्चारण करता है। 'ॐ' ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है; 'ॐ' ऐसा कहकर वह अग्निहोत्रके लिये आज्ञा देता है। वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है—'मैं ब्रह्म (वेद अथवा परब्रह्म) को प्राप्त करूँ।' इससे वह ब्रह्मको ही प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

ओमिति। इतिशब्दः स्वरूप-परिच्छेदार्थः, ओमित्येतच्छब्दरूपं ब्रह्मेति मनसा धारयेदुपासीत। यत ओमितीदं सर्वं हि शब्दरूपमोङ्कारेण व्याप्तम्। "तद्यथा शङ्कुना" (छा० उ० २। २३। ३) इति श्रुत्यन्तरात्। अभिधानतन्त्रं ह्यभिधेयमित्यत इदं सर्वमोङ्कार इत्युच्यते।

(ओङ्कारस्य सार्वात्म्यम्)

'ओमिति' इसमें 'इति' शब्द ओंकारके स्वरूपका परिच्छेद (निर्देश) करनेके लिये है। अर्थात् 'ॐ' यह शब्दरूप ब्रह्म है—ऐसा इसका मनसे ध्यान–उपासना करे; क्योंकि 'ॐ' यही सब कुछ है, कारण, समस्त शब्दरूप प्रपञ्च ओंकारसे व्याप्त है, जैसा कि 'जिस प्रकार शंकुसे पत्ते व्याप्त रहते हैं' इत्यादि एक दूसरी श्रुतिसे सिद्ध होता है। सम्पूर्ण वाच्य वाचकके ही अधीन होता है, इसलिये यह सब ओंकार ही कहा जाता है।

ओङ्कारस्तुत्यर्थमुत्तरो ग्रन्थः। उपास्यत्वात्तस्य। ओमित्येतदनुकृतिरनुकरणम्। करोमि यास्यामि

(ओङ्कारमहिमा)

आगेका ग्रन्थ ओंकारकी स्तुतिके लिये है, क्योंकि वह उपासनीय है। 'ॐ' यह अनुकृति यानी अनुकरण है। इसीसे किसीके द्वारा 'मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ'

चेति कृतमुक्तमोमित्यङ्गीकरोत्यन्यः। अत ओङ्कारोऽनुकृतिः। ह स्म वा इति प्रसिद्धार्थावद्योतकाः। प्रसिद्धमोङ्कारस्यानुकृतित्वम्।

अपि च 'ओ श्रावय' इति प्रैषपूर्वकमाश्रावयन्ति। तथोमिति सामानि गायन्ति सामगाः। ॐ शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्रशंसितारोऽपि। तथोमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौत्यनुजानाति प्रैषपूर्वकमाश्रावयति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। जुहोमीत्युक्त ओमित्येवानुज्ञां प्रयच्छति।

इस प्रकार किये हुए कथनको सुनकर दूसरा पुरुष [उसको स्वीकृत करते हुए] 'ॐ' ऐसा अनुकरण करता है। इसलिये ओंकार अनुकृति है। 'ह' 'स्म' और 'वै'—ये निपात प्रसिद्धिके सूचक हैं, क्योंकि ओंकारका अनुकृतित्व तो प्रसिद्ध ही है।

इसके सिवा 'ओ श्रावय' इस प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिकलोग प्रतिश्रवण कराते हैं। तथा 'ॐ' ऐसा कहकर सामगान करनेवाले सामका गान करते हैं। शस्त्र शंसन करनेवाले भी 'ॐ शोम्' ऐसा कहकर शस्त्रोंका पाठ करते हैं। तथा अध्वर्युलोग प्रतिगरके प्रति 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते हैं। 'ॐ' ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है अर्थात् प्रेरणापूर्वक आश्रवण करता है; और 'ॐ' कहकर वह अग्निहोत्रके लिये आज्ञा देता है। अर्थात् यजमानके यों कहनेपर कि 'मैं हवन करता हूँ' वह 'ॐ' ऐसा कहकर उसे अनुज्ञा देता है।

ओमित्येव ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन् प्रवचनं करिष्यन्नध्येष्यमाण ओमित्येवाह । ओमित्येव प्रतिपद्यतेऽध्येतुमित्यर्थः । ब्रह्म वेदमुपाप्नवानीति प्राप्नुयां ग्रहीष्यामीत्युपाप्नोत्येव ब्रह्म । अथवा ब्रह्म परमात्मा तमुपाप्नवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन्प्रापयिष्यन्नोमित्येवाह । स च तेनोङ्कारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव । ओङ्कारपूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलवत्त्वं यस्मात्तस्मादोङ्कारं ब्रह्मेत्युपासीतेति वाक्यार्थः ॥ १ ॥

प्रवचन अर्थात् अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता है; अर्थात् 'ॐ' ऐसा कहकर ही वह अध्ययन करनेके लिये प्रवृत्त होता है । 'मैं ब्रह्म यानी वेदको प्राप्त करूँ अर्थात् उसे ग्रहण करूँ' ऐसा कहकर वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है । अथवा [यों समझो कि] 'मैं ब्रह्म—परमात्माको प्राप्त करूँ' इस प्रकार आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे वह 'ॐ' ऐसा ही कहता है और उस ॐकारके द्वारा वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है । इस प्रकार क्योंकि ॐकारपूर्वक प्रवृत्त होनेवाली क्रियाएँ फलवती होती हैं इसलिये 'ॐकार ब्रह्म है' इस तरह उसकी उपासना करे—यह इस वाक्यका अर्थ है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥



नवम अनुवाक

ऋतादि शुभकर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका विधान

विज्ञानादेवाप्नोति स्वाराज्यमित्युक्तत्वाच्छ्रौतस्मार्तानां कर्मणामानर्थक्यं प्राप्तमित्यतस्तन्मा प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति साधनत्वप्रदर्शनार्थमिहोपन्यासः—

विज्ञानसे ही स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है—ऐसा [छठे अनुवाकमें] कहे जानेके कारण श्रौत और स्मार्त्त कर्मोंकी व्यर्थता प्राप्त होती है। वह प्राप्त न हो, इसलिये पुरुषार्थके प्रति कर्मोंका साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥

ऋत (शास्त्रादिद्वारा बुद्धिमें निश्चय किया हुआ अर्थ) तथा स्वाध्याय (शास्त्राध्ययन) और प्रवचन (अध्यापन अथवा वेदपाठरूप ब्रह्मयज्ञ) [ये अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं] । सत्य (सत्यभाषण) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [अनुष्ठान किये जाने चाहिये] । दम

(इन्द्रियदमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन्हें सदा करता रहे] । शम (मनोनिग्रह) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये सर्वदा कर्तव्य हैं] । अग्नि (अग्न्याधान) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका अनुष्ठान करे] । अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये नित्य कर्तव्य हैं] । अतिथि (अतिथिसत्कार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका नियमसे अनुष्ठान करे] । मानुषकर्म (विवाहादि लौकिकव्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन्हें करता रहे] प्रजा (प्रजा उत्पन्न करना) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [—ये सदा ही कर्तव्य हैं] । प्रजन (ऋतुकालमें भार्यागमन) तथा [इसके साथ] स्वाध्याय और प्रवचन [करता रहे] प्रजाति (पौत्रोत्पत्ति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका नियतरूपसे अनुष्ठान करे] । सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा रथीतरका पुत्र सत्यवचा मानता है । तप ही [नित्य अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा नित्य तपोनिष्ठ पौरुशिष्टिका मत है । स्वाध्याय और प्रवचन ही [कर्त्तव्य हैं] ऐसा मुद्गलके पुत्र नाकका मत है । अतः वे (स्वाध्याय और प्रवचन) ही तप हैं, वे ही तप हैं ॥ १ ॥

ऋतमिति व्याख्यातम् । स्वाध्यायोऽध्ययनम् । प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा । एतान्यृतादीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशेषः । सत्यं च सत्यवचनं यथाव्याख्यातार्थं वा । तपः कृच्छ्रादि । दमो बाह्यकरणोपशमः । शमोऽन्तःकरणोपशमः । अग्नय आधा-

'ऋत'—इसकी व्याख्या पहले [ऋतं वदिष्यामि—इस वाक्यमें] की जा चुकी है । 'स्वाध्याय' अध्ययनको कहते हैं, तथा 'प्रवचन' अध्यापन या ब्रह्मयज्ञका नाम है । ये ऋत आदि अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं—यह वाक्यशेष है । सत्य—सत्यवचन अथवा जैसा पहले [सत्यं वदिष्यामि—इस वाक्यमें] व्याख्या की गयी है, वह; तप—कृच्छ्रादि; दम—बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह; शम—चित्तकी शान्ति; [ये सब करने योग्य

तव्याः । अग्निहोत्रं च होतव्यम् । अतिथयश्च पूज्याः । मानुषमिति लौकिकः संव्यवहारः, तच्च यथाप्राप्तमनुष्ठेयम् । प्रजा चोत्पाद्या । प्रजनश्च प्रजननमृतौ भार्यागमनमित्यर्थः । प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः पुत्रो निवेशयितव्य इत्येतत् ।

स्वाध्यायप्रवचन-सहयोगकारणम्

सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापि स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम् । स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्, अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयः; प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च । अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः ।

सत्यादिप्राधान्ये मुनीनां मतभेदाः

सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति सत्यमेव वचो यस्य सोऽयं सत्यवचा नाम वा तस्य । राथीतरो रथीतरस्य गोत्रो राथीतराचार्यो मन्यते । तप इति तप एव

हैं] । अग्नियोंका आधान करना चाहिये । अग्निहोत्र होम करने योग्य है । अतिथियोंका पूजन करना चाहिये । मानुष यानी लौकिक व्यवहार; उसका भी यथाप्राप्त अनुष्ठान करना चाहिये । प्रजा उत्पन्न करनी चाहिये । प्रजन—प्रजनन—ऋतुकालमें भार्यागमन और प्रजाति—पौत्रोत्पत्ति अर्थात् पुत्रको स्त्रीपरिग्रह कराना चाहिये ।

इन सब कर्मोंसे युक्त पुरुषको भी स्वाध्याय और प्रवचनका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये—इसीलिये इन सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचनको ग्रहण किया गया है । स्वाध्यायके अधीन ही अर्थज्ञान है और अर्थज्ञानके अधीन ही परमश्रेय है, तथा प्रवचन उसकी अविस्मृति और धर्मकी वृद्धिके लिये है; इसलिये स्वाध्याय और प्रवचनमें आदर (श्रद्धा) रखना चाहिये ।

सत्य अर्थात् सत्य ही अनुष्ठान किये जाने योग्य है—ऐसा सत्यवचा—सत्य ही जिसका वचन हो वह अथवा जिसका नाम ही सत्यवचा है वह राथीतर अर्थात् रथीतरके वंशमें उत्पन्न हुआ राथीतर आचार्य मानता है । तप यानी तप ही कर्त्तव्य है—

कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा नाम पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते। स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति नाको नामतो मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्य आचार्यो मन्यते। तद्धि तपस्तद्धि तपः। हि यस्मात्स्वाध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति। उक्तानामपि सत्य तपःस्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम् ॥ १ ॥

ऐसा तपोनित्य—नित्य तपोनिष्ठ अथवा तपोनित्य नामवाला पौरुशिष्टि—पुरुशिष्टका पुत्र पौरुशिष्टि आचार्य मानता है। स्वाध्याय और प्रवचन ही अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं—ऐसा नाक नामवाला मुद्गलका पुत्र मौद्गल्य आचार्य मानता है। वही तप है, वही तप है। इसका तात्पर्य यह है—क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन ही तप हैं, इसलिये वे ही अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं। पहले कहे हुए भी सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचनोंका पुनर्ग्रहण उनके आदरके लिये है॥१॥

इति शीक्षावल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

त्रिशङ्कुका वेदानुवचन

अहं वृक्षस्य रेरिवेति स्वाध्यायार्थो मन्त्राम्नायः । स्वाध्यायश्च विद्योत्पत्तये । प्रकरणात् । विद्यार्थं हीदं प्रकरणम् । न चान्यार्थत्वमवगम्यते । स्वाध्यायेन च विशुद्धसत्त्वस्य विद्योत्पत्तिरवकल्प्यते ।

'अहं वृक्षस्य रेरिवा' आदि मन्त्राम्नाय स्वाध्याय (जप) के लिये है । तथा स्वाध्याय विद्या (ज्ञान) की उत्पत्तिके लिये बतलाया गया है; यह प्रकरणसे ज्ञात होता है, क्योंकि यह प्रकरण विद्याके लिये ही है; इसके सिवा उसका कोई और प्रयोजन नहीं जान पड़ता, क्योंकि स्वाध्यायके द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हो गया है उसीको विद्याकी उत्पत्ति होना सम्भव है ।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणꣳसवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ १ ॥

मैं [अन्तर्यामीरूपसे उच्छेदरूप संसार-] वृक्षका प्रेरक हूँ । मेरी कीर्ति पर्वतशिखरके समान उच्च है । ऊर्ध्वपवित्र (परमात्मारूप कारणवाला) हूँ । अन्नवान् सूर्यमें जिस प्रकार अमृत है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध अमृतमय हूँ । मैं प्रकाशमान [आत्मतत्त्वरूप] धन, सुमेधा (सुन्दर मेधावाला) और अमरणधर्मा तथा अक्षित (अव्यय) हूँ, अथवा अमृतसे सिक्त (भीगा हुआ) हूँ—यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है ॥ १ ॥

अहं वृक्षस्योच्छेदात्मकस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयिताऽन्तर्याम्यात्मना। कीर्तिः ख्यातिर्गिरेः पृष्ठमिवोच्छ्रिता मम। ऊर्ध्वपवित्र ऊर्ध्वं कारणं पवित्रं पावनं ज्ञानप्रकाश्यं पवित्रं परमं ब्रह्म यस्य सर्वात्मनो मम सोऽहमूर्ध्वपवित्रः। वाजिनीव वाजवतीव। वाजमन्नं तद्वति सवितरीत्यर्थः। यथा सवितर्यमृतमात्मतत्त्वं विशुद्धं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृतिशतेभ्य एवं स्वमृतं शोभनं विशुद्धमात्मतत्त्वमस्मि भवामि।

द्रविणं धनं सवर्चसं दीप्तिमत्तदेवात्मतत्त्वमस्मीत्यनुवर्तते। ब्रह्मज्ञानं वात्मतत्त्वप्रकाशकत्वात्सवर्चसम्। द्रविणमिव द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात्। अस्मिन्पक्षे प्राप्तं मयेत्यध्याहारः कर्तव्यः।

मैं अन्तर्यामीरूपसे वृक्ष अर्थात् उच्छेदात्मक संसाररूप वृक्षका प्रेरक हूँ। मेरी कीर्ति—प्रसिद्धि पर्वतके पृष्ठभागके समान ऊँची है। मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ—पवित्र—पावन अर्थात् ज्ञानसे प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म जिस मुझ सर्वात्माका ऊर्ध्व यानी कारण है वह मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ। 'वाजिनि इव'—वाजवान्‌के समान—वाज अर्थात् अन्न उससे युक्त सूर्यके समान, जिस प्रकार सैकड़ों श्रुतिस्मृतियोंके अनुसार सूर्यमें विशुद्ध अमृत यानी आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है उसी प्रकार मैं भी सु अमृत अर्थात् शोभन—विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ।

वही मैं आत्मतत्त्व सवर्चस—दीप्तिशाली द्रविण यानी धन हूँ—इस प्रकार यहाँ 'अस्मि (हूँ)' क्रियाकी अनुवृत्ति की जाती है। अथवा आत्मतत्त्वका प्रकाशक होनेसे तेजस्वी ब्रह्मज्ञान, जो मोक्षसुखका हेतु होनेके कारण धनके समान धन है, [मुझे प्राप्त हो गया है]—इस पक्षमें ['अस्मि' क्रियाकी अनुवृत्ति न करके] 'मया प्राप्तम्' (वह मुझे प्राप्त हो गया है) इसका अध्याहार करना चाहिये।

सुमेधाः शोभना मेधा सर्वज्ञत्वलक्षणा यस्य मम सोऽहं सुमेधाः । संसारस्थित्युत्पत्त्युपसंहारकौशलयोगात्सुमेधस्त्वम् । अत एवामृतोऽमरणधर्माक्षितोऽक्षीणोऽव्ययः, अक्षतो वा; अमृतेन वोक्षितः सिक्तः । "अमृतोक्षितोऽहम्" इत्यादि ब्राह्मणम् ।

सुमेधा—जिस मेरी मेधा शोभन अर्थात् सर्वज्ञत्वलक्षणवाली है वह मैं सुमेधा हूँ । संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और संहार—इसका कौशल होनेके कारण मेरा सुमेधस्त्व है । इसीसे मैं अमृत—अमरणधर्मा और अक्षित—अक्षीण यानी अव्यय अथवा अक्षय हूँ । अथवा, [तृतीयातत्पुरुष समास माननेपर] अमृतेन उक्षितः अमृतसे सिक्त हूँ । "मैं अमृतसे उक्षित हूँ" ऐसा ब्राह्मणवाक्य भी है ।

इत्येवं त्रिशङ्कोर्ऋषेर्ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मविदो वेदानुवचनम्; वेदो वेदनमात्मैकत्वविज्ञानं तस्य प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम् । आत्मनः कृतकृत्यताख्यापनार्थं वामदेववत्त्रिशङ्कुनार्षेण दर्शनेन दृष्टो मन्त्राम्नाय आत्मविद्याप्रकाशक इत्यर्थः ।

इस प्रकार यह ब्रह्मभूत ब्रह्मवेत्ता त्रिशंकु ऋषिका वेदानुवचन है । वेद वेदन अर्थात् आत्मैकत्वविज्ञानको कहते हैं उसकी प्राप्तिके अनु—पीछेका वचन 'वेदानुवचन' कहलाता है । तात्पर्य यह है कि अपनी कृतकृत्यता प्रकट करनेके लिये वामदेवके समान * त्रिशङ्कु ऋषिद्वारा आर्षदृष्टिसे देखा हुआ यह मन्त्राम्नाय आत्मविद्याका प्रकाश करनेवाला है ।

अस्य च जपो विद्योत्पत्त्यर्थोऽवगम्यते । ऋतं चेत्यादि-

इसका जप विद्याकी उत्पत्तिके लिये माना जाता है । इस 'ऋतं

*देखिये ऐतरेयोपनिषद् २ । १ । ५

कर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानुवचनपाठादेतदवगम्यत एवं श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म विविदिषोरार्षाणि दर्शनानि प्रादुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति ॥ १ ॥

च' इत्यादि अनुवाकमें धर्मका उपन्यास (उल्लेख) करनेके अनन्तर वेदानुवचनका पाठ करनेसे यह जाना जाता है कि इस प्रकार श्रौत और स्मार्त नित्यकर्मोंमें लगे हुए परब्रह्मके निष्काम जिज्ञासुके प्रति आत्मा आदिसे सम्बन्धित आर्षदर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ करता है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

एकादश अनुवाक

वेदाध्ययनके अनन्तर शिष्यको आचार्यका उपदेश

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्यतोपदेशारम्भः प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तकर्माणीत्येवमर्थः । अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात् । संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते । "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते" (मनु० १२ । १०४) इति स्मृतिः । वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजि-

प्राग्ब्रह्मविज्ञानात् कर्मविधिः

ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानसे पूर्व श्रौत और स्मार्तकर्मोंका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिये—इसीलिये 'वेदमनूच्य' इत्यादि श्रुतिसे उनकी कर्तव्यताके उपदेशका आरम्भ किया जाता है, क्योंकि ['अनुशास्ति' ऐसी] जो अनुशासन-श्रुति है वह पुरुषके संस्कारके लिये है, क्योंकि जो पुरुष संस्कारयुक्त और विशुद्धचित्त होता है उसे अनायास ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस सम्बन्धमें "तपसे पापका नाश करता है और ज्ञानसे अमरत्व लाभ करता है" ऐसी स्मृति है । आगे ऐसा कहेंगे भी कि

ज्ञासस्व" (तै० उ० ३ । २ । ५) इति । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि । अनुशास्तीत्यनुशासनशब्दादनुशासनातिक्रमे हि दोषोत्पत्तिः ।

"तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" अतः ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये कर्म करने चाहिये । 'अनुशास्ति' इसमें 'अनुशासन'—ऐसा शब्द होनेके कारण उस अनुशासनका अतिक्रमण करनेपर दोषकी उत्पत्ति होगी ।

प्रागुपन्यासाच्च कर्मणाम् । केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि । उदितायां च ब्रह्मविद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० उ० २ । ७ । १) "न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २ । ९ । १) "किमहं साधु नाकरवम्" (तै० उ० २ । ९ । १) इत्येवमादिना कर्मनैष्किञ्चन्यं दर्शयिष्यति; इत्यतोऽवगम्यते पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति । मन्त्रवर्णाच्च—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति । ऋता-

कर्मोंका उपन्यास पहले किया जानेके कारण भी [यह निश्चय होता है कि ये कर्म विद्याकी उत्पत्तिके लिये हैं] । कर्मोंका उपन्यास केवल ब्रह्मविद्याका निरूपण आरम्भ करनेसे पूर्व ही किया गया है । ब्रह्मविद्याका उदय होनेपर तो "अभय प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लेता है" "किसीसे भी भय नहीं मानता" "मैंने कौन-सा शुभकर्म नहीं किया" इत्यादि वाक्योंद्वारा कर्मोंकी निष्किञ्चनता ही दिखलायेंगे। इससे विदित होता है कि कर्म पूर्वसञ्चित पापोंके क्षयके द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिके ही लिये हैं । "अविद्या (कर्म) से मृत्यु (अधर्म) को पार करके विद्या (उपासना) से अमरत्व लाभ करता है" इस मन्त्रवर्णसे भी यही बात प्रमाणित होती है । अतः पहले (नवम अनुवाकमें)

दीनां पूर्वत्रोपदेश आनर्थक्य-परिहारार्थः । इह तु ज्ञानोत्पत्त्य-र्थत्वात्कर्तव्यतानियमार्थः ।

जो ऋतादिका उपदेश किया है वह उनके आनर्थक्यकी निवृत्तिके लिये है । तथा यहाँ ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु होनेसे उनकी कर्तव्यताका नियम करनेके लिये है ।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धन-माहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳसुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥

नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥ ३ ॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः

संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उपदेश देता है— सत्य बोल । धर्मका आचरण कर । स्वाध्यायसे प्रमाद न कर आचार्यके लिये अभीष्ट धन लाकर [उसकी आज्ञासे स्त्रीपरिग्रह कर और] सन्तान-परम्पराका छेदन न कर । सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । कुशल (आत्मरक्षामें उपयोगी) कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥ देवकार्य और पितृकार्योंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । तू मातृदेव (माता ही जिसका देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो और अतिथिदेव हो । जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हींका सेवन करना चाहिये—दूसरोंका नहीं । हमारे (हम गुरुजनोंके) जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥ दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं । जो कोई [आचार्यादि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण] हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनका आसनादिके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये । श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये । अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये । लज्जापूर्वक देना चाहिये । भय मानते हुए देना चाहिये । संवित्—मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना चाहिये । यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई सन्देह उपस्थित हो ॥ ३ ॥ तो वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अरूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उस प्रसङ्गमें वे जैसा व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर । इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोष आरोपित किये गये हों उनके विषयमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें

नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर स्वतः कर्ममें परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें तू भी वैसा ही कर । यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य है और [ईश्वरकी] आज्ञा है । इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये—ऐसा ही आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

अधीतवेदस्य कर्त्तव्यनिरूपणम्

वेदमनूच्याध्याप्याचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः । अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति । "बुद्ध्वा कर्माणि चारभेत्" इति स्मृतेश्च । कथमनुशास्तीत्याह—

वेदका अध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य अन्तेवासी—शिष्यको उपदेश करता है; अर्थात् ग्रन्थग्रहणके पश्चात् अनुशासन करता है—उसका अर्थ ग्रहण कराता है । इससे ज्ञात होता है कि वेदाध्ययन कर चुकनेपर भी ब्रह्मचारीको बिना धर्मजिज्ञासा किये गुरुकुलसे समावर्तन (अपने घरकी ओर प्रत्यागमन) नहीं करना चाहिये । "कर्मोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उनके अनुष्ठानका आरम्भ करे" इस स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है । किस प्रकार उपदेश करता है ? सो बतलाते हैं—

सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं तद्वद । तद्वद्धर्मं चर । धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं सत्यादिविशेषनिर्देशात् । स्वा-

सत्य बोल अर्थात् जो कहनेयोग्य बात प्रमाणसे जैसी जानी गयी हो उसे उसी प्रकार कह । इसी प्रकार धर्मका आचरण कर । 'धर्म' यह अनुष्ठान करनेयोग्य कर्मोंका सामान्यरूपसे वाचक है, क्योंकि सत्यादि विशेष धर्मोंका तो निर्देश कर ही दिया है । स्वाध्याय

ध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः । आचार्यायाचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम्, आचार्येण चानुज्ञातोऽनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेत्सीः । प्रजासन्ततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या । अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः । प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात् । अन्यथा प्रजनश्चेत्येतदेकमेवावक्ष्यत् ।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्तव्यः । सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः, प्रमादशब्दसामर्थ्यात्। विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः । अन्यथासत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात् । धर्मान्न

अर्थात् अध्ययनसे प्रमाद न कर । आचार्यके लिये प्रिय—उनका अभीष्ट धन लाकर और विद्यादानसे उऋण होनेके लिये उन्हें देकर आचार्यके आज्ञा देनेपर अपने अनुरूप स्त्रीसे विवाह करके प्रजातन्तु—सन्तति-क्रमका छेदन न कर । अर्थात् प्रजासन्ततिका विच्छेद नहीं करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि यदि पुत्र उत्पन्न न हो तो भी पुत्र-काम्या (पुत्रेष्टि) आदि कर्मोंद्वारा उसकी उत्पत्तिके लिये यत्न करना ही चाहिये । [नवम अनुवाकमें] प्रजा, प्रजन और प्रजाति—तीनोंहीका निर्देश किया गया है; उसकी सामर्थ्यसे यही बात सिद्ध होती है; अन्यथा वहाँ केवल 'प्रजन' इस एक ही साधनका निर्देश किया जाता ।

सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । सत्यसे प्रमादका अभिप्राय है असत्यका प्रसंग, यह प्रमाद शब्दके सामर्थ्यसे बोधित होता है । तात्पर्य यह है कि कभी भूलकर भी असत्य-भाषण नहीं करना चाहिये; यदि ऐसा तात्पर्य न होता तो, यहाँ केवल असत्यभाषणका निषेध ही किया जाता । धर्मसे प्रमाद नहीं

प्रमदितव्यम् । धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः स न कर्तव्यः । अनुष्ठातव्य एव धर्म इति यावत् । एवं कुशलादात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदितव्यम् । भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं ताभ्यां न प्रमदितव्यम् । ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः ॥१॥ तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये ।

करना चाहिये । 'धर्म' शब्द अनुष्ठेय कर्मविशेषका वाचक होनेसे उसका अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है; सो नहीं करना चाहिये । अर्थात् धर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये । इसी प्रकार कुशल—आत्मरक्षामें उपयोगी कर्मोंसे प्रमाद न करे । 'भूति' वैभवको कहते हैं, उस वैभवके लिये होनेवाले मंगलयुक्त कर्मोंसे प्रमाद न करे । स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद न करे । स्वाध्याय अध्ययन है और प्रवचन अध्यापन, उन दोनोंसे प्रमाद न करे अर्थात् उनका नियमसे आचरण करता रहे ॥ १ ॥ इसी प्रकार देवकार्य और पितृकार्योंसे भी प्रमाद न करे, अर्थात् देवता और पितृसम्बन्धी कर्म अवश्य करने चाहिये ।

मातृदेवो माता देवो यस्य स त्वं मातृदेवो भव स्याः । एवं पितृदेव आचार्यदेवो भव । देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः । यान्यपि चान्यान्यनवद्यान्यनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया । नो न कर्त-

मातृदेव—माता है देव जिसका वह तू मातृदेव हो । इसी प्रकार पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, [अतिथिदेव हो] [इनका अर्थ समझना चाहिये] । तात्पर्य यह है कि ये सब देवताके समान उपासना करनेयोग्य हैं । इसके सिवा और भी जो अनवद्य—अनिन्द्य यानी शिष्टाचाररूप कर्म हैं तेरे लिये वे ही सेवनीय यानी कर्त्तव्य हैं । अन्य

व्यानीतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि । यान्यस्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितान्याम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि, नियमेन कर्तव्यानीति यावत् ॥ २ ॥ नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि ।

निन्दायुक्त कर्म—भले ही वे शिष्ट पुरुषोंके किये हुए हों—तुझे नहीं करने चाहिये । हम आचार्यलोगोंके भी जो सुचरित—शुभ चरित अर्थात् शास्त्रसे अविरुद्ध कर्म हैं उन्हींको तुझे उपासना करनी चाहिये; अदृष्ट फलके लिये उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् तेरे लिये वे ही नियमसे कर्त्तव्य हैं ॥ २ ॥—दूसरे नहीं, अर्थात् उनसे विपरीत कर्म आचार्यके किये हुए भी कर्त्तव्य नहीं हैं ।

ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मदस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेनासनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम् । प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः । तेषां श्रमस्त्वयापनेतव्य इत्यर्थः । तेषां चासने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वसितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम् ।

जो कोई भी आचार्यत्व आदि धर्मोंके कारण विशिष्ट हैं, अर्थात् हमसे श्रेष्ठ—बड़े हैं तथा वे ब्राह्मण भी हैं—क्षत्रिय आदि नहीं हैं, उनका आसनादिके द्वारा अर्थात् उन्हें आसनादि देकर तुझे प्रश्वास—प्रश्वासका अर्थ है आश्वासन यानी श्रमापहरण करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि तुझे उनका श्रम निवृत्त करना चाहिये । तथा किसी गोष्ठी (सभा) के लिये उन्हें उच्चासन प्राप्त होनेपर तुझे प्रश्वास—दीर्घनिःश्वास भी नहीं छोड़ना चाहिये; तुझे केवल उनके कथनका सार ग्रहण करनेवाला होना चाहिये ।

किं च यत्किंचिद्देयं तच्छ्रद्धयैव दातव्यम् । अश्रद्धया अदेयं न दातव्यम् । श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम् । ह्रिया लज्जया च देयम् । भिया भीत्या च देयम् । संविदा च मैत्र्यादिकार्येण देयम् ।

इसके सिवा, तुझे जो कुछ दान करना हो वह श्रद्धासे ही देना चाहिये, अश्रद्धासे नहीं । श्री अर्थात् विभूतिके अनुसार देना चाहिये, ह्री—लज्जापूर्वक देना चाहिये, भी—भय मानते हुए देना चाहिये तथा संविद् यानी मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना चाहिये ।

अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तत्र श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वाचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात् ॥३॥ ये तत्र तस्मिन् देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता इति व्यवहितेन संबन्धः कर्तव्यः । संमर्शिनो विचारक्षमाः । युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा । आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः । अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः । धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता इत्येतत्, स्युर्भवेयुः । ते यथा येन प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्क-

फिर इस प्रकार बर्तते हुए तुझे यदि किसी समय किसी श्रौत या स्मार्त्त कर्म अथवा आचरणरूप वृत्त (व्यवहार) में संशय उपस्थित हो ॥ ३ ॥ तो वहाँ उस देश या कालमें जो ब्राह्मण नियुक्त हों—इस प्रकार 'तत्र' इस पदका 'युक्ताः' इस व्यवधानयुक्त पदसे सम्बन्ध करना चाहिये—[और जो] संमर्शी—विचारक्षम, युक्त—कर्म अथवा आचरणमें पूर्णतया तत्पर, आयुक्त—किसी दूसरेसे प्रयुक्त न होनेवाले [अर्थात् स्वेच्छासे प्रवृत्त], अलूक्ष—अरूक्ष अर्थात् अक्रूरमति (सरलचित्त) और धर्मकामी—अदृष्टफलकी इच्छावाले अर्थात् कामनावश विवेकशून्य न हों, वे ब्राह्मण उस कर्म या आचरणमें जिस

र्मणि वृत्ते वा वर्तेरंस्तथा त्वमपि वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु, अभ्याख्याता अभ्युक्ता दोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केनचित्तेषु च यथोक्तं सर्वमुपनयेद्ये तत्रेत्यादि ।

प्रकार बर्ताव करें उसी प्रकार तुझे भी बर्ताव करना चाहिये । इसी प्रकार अभ्याख्यातोंके प्रति—अभ्याख्यात-अभ्युक्त अर्थात् जिनपर कोई संशययुक्त दोष आरोपित किया गया हो उनके प्रति जैसा पहले 'ये तत्र' इत्यादिसे कहा गया है उसी सब व्यवहारका प्रयोग करना चाहिये ।

एष आदेशो विधिः । एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनाम् । एषा वेदोपनिषद्वेदरहस्यं वेदार्थ इत्येतत् । एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम् । आदेशवाक्यस्य विधेरुक्तत्वात्सर्वेषां वा प्रमाणभूतानामनुशासनमेतत् । यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्वमुपासितव्यं कर्तव्यम् । एवमु चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम् ॥४॥

यह आदेश अर्थात् विधि है, यह पुत्रादिको पिता आदिका उपदेश है, यह वेदोपनिषद्—वेदका रहस्य यानी वेदार्थ है । यही अनुशासन यानी ईश्वरका वाक्य है । अथवा आदेशवाक्य विधि है—ऐसा पहले कहा जा चुका है इसलिये यह सभी प्रमाणभूत [उपदेशकों] का अनुशासन है । क्योंकि ऐसा है इसलिये पहले जो कुछ कहा गया है वह सब इसी प्रकार उपासनीय—करने योग्य है । इस प्रकार ही इसकी उपासना करनी चाहिये—यह उपासनीय ही है, अनुपास्य नहीं है—इस प्रकार यह पुनरुक्ति उपासनाके आदरके लिये है ॥ ४ ॥

मोक्ष-साधनकी मीमांसा

मोक्षकारण-मीमांसायां चत्वारो विकल्पाः

अत्रैतच्चिन्त्यते विद्याकर्मणोर्विवेकार्थं किं कर्मभ्य एव केवलेभ्यः परं श्रेय उत विद्यासव्यपेक्षेभ्य आहोस्विद्विद्याकर्मभ्यां संहताभ्यां विद्याया वा कर्मापेक्षाया उत केवलाया एव विद्याया इति ?

अब विद्या और कर्मका विवेक [अर्थात् इन दोनोंका फल भिन्न-भिन्न है—इसका निश्चय] करनेके लिये यह विचार किया जाता है कि (१) क्या परम श्रेयकी प्राप्ति केवल कर्मसे होती है, (२) अथवा विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे, (३) किंवा परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनोंसे, (४) अथवा कर्मकी अपेक्षा रखनेवाली विद्यासे, (५) या केवल विद्यासे ही ?

कर्मणां मोक्ष-साधनत्वनिरासः

तत्र केवलेभ्य एव कर्मभ्यः स्यात् । समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारात् । "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" इति स्मरणात् । अधिगमश्च सहोपनिषदर्थेनात्मज्ञानादिना । "विद्वान्यजते" "विद्वान्याजयति" इति च विदुष एव कर्मण्यधिकारः प्रदर्श्यते सर्वत्र "ज्ञात्वा चानुष्ठानम्" इति च ।

उनमें [पहला पक्ष यह है कि] केवल कर्मोंसे ही परम श्रेयकी प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि "द्विजातिको रहस्यके सहित सम्पूर्ण वेदका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये" ऐसी स्मृति होनेसे सम्पूर्ण वेदका ज्ञान रखनेवालेको ही कर्मका अधिकार है, और वेदका ज्ञान उपनिषद्के अर्थभूत आत्मज्ञानादिके सहित ही हो सकता है । "विद्वान् यज्ञ करता है" "विद्वान् यज्ञ कराता है" इत्यादि वाक्योंसे सर्वत्र विद्वान्‌का ही कर्ममें अधिकार दिखलाया गया है; तथा "जानकर कर्मानुष्ठान करे" ऐसा भी कहा है । कोई-कोई

कृत्स्नश्च वेदः कर्मार्थ इति हि मन्यन्ते केचित् । कर्मभ्यश्चेत्परं श्रेयो नावाप्यते वेदोऽनर्थकः स्यात् ।

ऐसा भी मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद कर्मके ही लिये हैं, और यदि कर्मोंसे ही परम श्रेयकी प्राप्ति न हुई तो वेद भी व्यर्थ ही हो जायगा ।

न; नित्यत्वान्मोक्षस्य, नित्यो हि मोक्ष इष्यते । कर्मकार्यस्यानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके । कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयो नित्यं स्यात्तच्चानिष्टम् । "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" (छा० उ० ८ । १ । ६) इतिन्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधात् ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मोक्षका नित्यत्व है—मोक्ष नित्य ही माना गया है । और जो वस्तु कर्मका कार्य है उसकी अनित्यता लोकमें प्रसिद्ध है । यदि नित्य श्रेय कर्मोंसे होता है ऐसा मानें तो इष्ट नहीं है; क्योंकि इसका "जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है [उसी प्रकार पुण्यार्जित परलोक भी क्षीण हो जाता है]" इस न्याययुक्त श्रुतिसे विरोध है ।

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य च कर्मण उपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानाच्च तत्प्रत्यवायानुत्पत्तेर्ज्ञाननिरपेक्ष एव मोक्ष इति चेत् ?

*पूर्व*०—काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मोंका आरम्भ न करनेसे, प्रारब्ध कर्मोंका भोगसे ही क्षय हो जानेसे तथा नित्य कर्मोंके अनुष्ठानके कारण प्रत्यवायकी उत्पत्ति न होनेसे मोक्ष ज्ञानकी अपेक्षासे रहित ही है—यदि ऐसा माने तो ?

तच्च न; शेषकर्मसंभवात्तन्निमित्तशरीरान्तरोत्पत्तिः प्राप्नो-

सिद्धान्ती—ऐसी बात भी नहीं है; शेष (सञ्चित) कर्मोंके रह जानेसे उनके कारण अन्य शरीरकी उत्पत्ति सिद्ध होती है—इस प्रकार

तीति प्रत्युक्तम् । कर्मशेषस्य च नित्यानुष्ठानेनाविरोधात्क्षयानुपपत्तिरिति च ।

यदुक्तं समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारादित्यादि, तच्च न; श्रुतज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य । श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मण्यधिक्रियते नोपासनामपेक्षते । उपासनं च श्रुतज्ञानादर्थान्तरं विधीयते । मोक्षफलमर्थान्तरप्रसिद्धं च स्यात् । 'श्रोतव्यः' इत्युक्त्वा तद्व्यतिरेकेण 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति यत्नान्तरविधानात् । मनननिदिध्यासनयोश्च प्रसिद्धं श्रवणज्ञानादर्थान्तरत्वम् ।

ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य मोक्षसाधनत्वनिरासः

एवं तर्हि विद्यासव्यपेक्षेभ्यः कर्मभ्यः स्यान्मोक्षः । विद्यासहितानां च कर्मणां भवेत्कार्या-

हम इसका पहले ही खण्डन कर चुके हैं; तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे सञ्चित कर्मोंका विरोध न होनेके कारण उनका क्षय होना सम्भव नहीं है ।

और यह जो कहा कि समस्त वेदके अर्थको जाननेवालेको ही कर्मका अधिकार होनेके कारण [केवल कर्मसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है] सो भी ठीक नहीं, क्योंकि उपासना श्रुतज्ञान (गुरुकुलमें किये हुए वाक्यविचार) से भिन्न ही है । मनुष्य श्रुतज्ञानमात्रसे ही कर्मका अधिकारी हो जाता है, इसके लिये वह उपासनाकी अपेक्षा नहीं रखता । उपासना तो श्रुतज्ञानसे भिन्न वस्तु ही बतलायी गयी है । वह उपासना मोक्षरूप फलवाली और अर्थान्तररूपसे प्रसिद्ध है, क्योंकि 'श्रोतव्यः' ऐसा कहकर [मनन और निदिध्यासनके लिये] 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—इस प्रकार पृथक् यत्नान्तरका विधान किया है । लोकमें भी श्रवणज्ञानसे मनन और निदिध्यासनका अर्थान्तरत्व प्रसिद्ध ही है ।

पूर्व०—इस प्रकार तब तो विद्याकी अपेक्षासे युक्त कर्मोंद्वारा ही मोक्ष हो सकता है । जो कर्म ज्ञानके सहित होते हैं उनमें कार्यान्तरके

न्तरारम्भसामर्थ्यम्। यथा स्वतो मरणज्वरादिकार्यारम्भसमर्थानामपि विषदध्यादीनां मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः कर्मभिर्मोक्ष आरभ्यत इति चेत् ?

आरम्भका सामर्थ्य हो सकता है, जिस प्रकार कि स्वयं मरण और ज्वरादि कार्योंके आरम्भमें समर्थ होनेपर भी विष एवं दधि आदिमें मन्त्र और शर्करादिसे युक्त होनेपर कार्यान्तरके आरम्भका सामर्थ्य हो जाता है, इसी प्रकार विद्यासहित कर्मोंसे मोक्षका आरम्भ हो सकता है—यदि ऐसा मानें तो ?

न; आरभ्यस्यानित्यत्वादित्युक्तो दोषः।

सिद्धान्ती—नहीं, जो वस्तु आरम्भ होनेवाली होती है वह अनित्य हुआ करती है—इस प्रकार इस पक्षका दोष बतलाया जा चुका है।

वचनादारभ्योऽपि नित्य एवेति चेत् ?

पूर्व०—किन्तु ['न स पुनरावर्तते' इत्यादि] वचनसे तो आरम्भ होनेवाला मोक्ष भी नित्य ही होता है ?

न; ज्ञापकत्वाद्वचनस्य। वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तृ। न हि वचनशतेनापि नित्यमारभ्यत आरब्धं वाविनाशि भवेत्। एतेन विद्याकर्मणोः संहतयोर्मोक्षारम्भकत्वं प्रत्युक्तम्।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वचन तो केवल ज्ञापक है; यथार्थ अर्थको बतलानेवालेका ही नाम 'वचन' है। वह किसी अविद्यमान पदार्थको उत्पन्न करनेवाला नहीं होता। सैकड़ों वचन होनेपर भी नित्य वस्तुका आरम्भ नहीं किया जा सकता और न आरम्भ होनेवाली वस्तु अविनाशी ही हो सकती है। इससे समुच्चित विद्या और कर्मके मोक्षारम्भकत्वका प्रतिषेध कर दिया गया।

विद्याकर्मणी मोक्षप्रतिबन्धहेतुनिवर्तके इति चेत्—न, कर्मणः फलान्तरदर्शनात्। उत्पत्तिसंस्कारविकाराप्तयो हि फलं कर्मणो दृश्यते। उत्पत्त्यादिफलविपरीतश्च मोक्षः।

विद्या और कर्म ये दोनों मोक्षके प्रतिबन्धके हेतुओंको निवृत्त करनेवाले हैं [मोक्षके स्वरूपको उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं; अतः जिस प्रकार प्रध्वंसाभाव कृतक होनेपर भी नित्य है उसी प्रकार उन प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति भी नित्य ही होगी] —यदि ऐसा कहो तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्मोंका तो अन्य ही फल देखा गया है। उत्पत्ति, संस्कार, विकार और आप्ति—ये कर्मके फल देखे गये हैं। किन्तु मोक्ष उत्पत्ति आदि फलसे विपरीत है।

गतिश्रुतेराप्य इति चेत्। "सूर्यद्वारेण", "तयोर्ध्वमायन्" (क० उ० २। ३। १६) इत्येवमादिगतिश्रुतिभ्यः प्राप्यो मोक्ष इति चेत्।

पूर्व०—गतिप्रतिपादिका श्रुतियोंसे तो मोक्ष आप्य सिद्ध होता है—"सूर्यद्वारसे", "उस सुषुम्ना नाडीद्वारा ऊर्ध्वलोकोंको जानेवाला" आदि गतिप्रतिपादिका श्रुतियोंसे जाना जाता है कि मोक्ष प्राप्य है।

न; सर्वगतत्वाद्गन्तृभिश्चानन्यत्वादाकाशादिकारणत्वात्सर्वगतं ब्रह्म। ब्रह्माव्यतिरिक्ताश्च सर्वे विज्ञानात्मानः। अतो नाप्यो मोक्षः। गन्तुरन्यद्विभिन्नं देशं प्रति भवति गन्तव्यम्। न हि येनैवाव्यतिरिक्तं यत्तत्तेनैव

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत, गमन करनेवालोंसे अभिन्न और आकाशादिका भी कारण होनेसे सर्वगत है तथा सम्पूर्ण विज्ञानात्मा ब्रह्मसे अभिन्न हैं; इसलिये मोक्ष आप्य नहीं है। गमन करनेवालेसे पृथक् अन्य देशमें ही गमन करने योग्य हुआ करता है। जो जिससे अभिन्न होता

गम्यते। तदनन्यत्वप्रसिद्धेश्च "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २।६।१) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" (गीता १३।२) इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः।

है उसीसे वह गन्तव्य नहीं होता। और उसकी अनन्यता तो "उसे रचकर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया" "सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको ही जान" इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे सिद्ध होती है।

गत्यैश्वर्यादिश्रुतिविरोध इति चेत्। अथापि स्याद्यद्यप्राप्यो मोक्षस्तदा गतिश्रुतीनां "स एकधा" (छा० उ० ७।२६।२) "स यदि पितृलोककामो भवति" (छा० उ० ८।२।१) "स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" (छा० उ० ८।१२।३) इत्यादिश्रुतीनां च कोपः स्यादिति चेत्।

पूर्व०—[ऐसा माननेसे तो] गति और ऐश्वर्यका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा—अच्छा, यदि मोक्ष अप्राप्य ही हो तो भी गतिश्रुति तथा "वह एकरूप होता है" "वह यदि पितृलोककी इच्छावाला होता है" "वह स्त्री और यानोंके साथ रमण करता है" इत्यादि श्रुतियोंका व्याकोप (बाध) हो जायगा।

न; कार्यब्रह्मविषयत्वात्तासाम्। कार्ये हि ब्रह्मणि स्त्र्यादयः स्युर्न कारणे। "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६।२।१) "यत्र नान्यत्पश्यति" (छा० उ० ७।२४।१) "तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० २।४।१४, ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वे तो कार्यब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। स्त्री आदि तो कार्य ब्रह्ममें ही हो सकती हैं, कारण ब्रह्ममें नहीं; जैसा कि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म" "जहाँ कोई और नहीं देखता" "तब किसके द्वारा किसे देखे" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

विरोधाच्च विद्याकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः । प्रविलीनकर्त्रादिकारकविशेषतत्त्वविषया हि विद्या तद्विपरीतकारकसाध्येन कर्मणा विरुध्यते । न ह्येकं वस्तु परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवत्तच्छून्यं चेत्युभयथा द्रष्टुं शक्यते । अवश्यं ह्यन्यतरन्मिथ्या स्यात् । अन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे युक्तं यत्स्वाभाविकाज्ञानविषयस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वम् । "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २ । ४ । १४) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क० उ० २ । १ । १०, बृ० उ० ४ । ४ । १९) "अथ यत्रान्यत्पश्यति ...... तदल्पम्" (छा० उ० ७ । २४ । १ "अन्योऽसावन्योऽहमस्मि" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै० उ० २ । ७ । १) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः ।

इसके सिवा विद्या और कर्मका विरोध होनेके कारण भी उनका समुच्चय नहीं हो सकता । जिसमें कर्ता-करण आदि कारकविशेषोंका पूर्णतया लय होता है उस तत्त्वको (ब्रह्मको) विषय करनेवाली विद्या अपनेसे विपरीत साधनसाध्य कर्मसे विरुद्ध है । एक ही वस्तु परमार्थतः कर्ता आदि विशेषसे युक्त और उससे रहित—दोनों ही प्रकारसे नहीं देखी जा सकती । उनमेंसे एक पक्ष अवश्य मिथ्या होना चाहिये । इस प्रकार किसी एकके मिथ्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर जो स्वभावसे ही अज्ञानका विषय है उस द्वैतका ही मिथ्या होना उचित है, जैसा कि "जहाँ द्वैतके समान होता है" "वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" "जहाँ अन्य देखता है वह अल्प है" "यह अन्य है मैं अन्य हूँ" "जो थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

सत्यत्वं चैकत्वस्य "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "ब्रह्मैवेद्ꣳसर्वम्" (मु० उ० २ । २ । ११) "आत्मैवेद्ꣳसर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च संप्रदानादिकारकभेदादर्शने कर्मोपपद्यते । अन्यत्वदर्शनापवादश्च विद्याविषये सहस्रशः श्रूयते । अतो विरोधो विद्याकर्मणोः । अतश्च समुच्चयानुपपत्तिः । तत्र यदुक्तं संहताभ्यां विद्याकर्मभ्यां मोक्ष इति, अनुपपन्नं तत् ।

विहितत्वात्कर्मणां श्रुतिविरोध इति चेत् । यद्युपमृद्य कर्त्रादिकारकविशेषमात्मैकत्वविज्ञानं विधीयते सर्पादिभ्रान्तिविज्ञानोपमर्दकरज्ज्वादिविषयविज्ञानवत्प्राप्तः कर्मविधिश्रुतीनां निर्विष-

तथा "एक रूपसे ही देखना चाहिये" "एक ही अद्वितीय" "यह सब ब्रह्म ही है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे एकत्वकी सत्यता सिद्ध होती है । सम्प्रदान आदि कारकभेदके दिखायी न देनेपर कर्म होना सम्भव भी नहीं है । ज्ञानके प्रसङ्गमें भेददृष्टिके अपवाद तो सहस्रों सुननेमें आते हैं । अतः विद्या और कर्मका विरोध है; इसलिये भी उनका समुच्चय होना असम्भव है । ऐसी दशामें पूर्वमें तुमने जो कहा था कि 'परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनोंसे मोक्ष होता है' वह सिद्ध नहीं होता ।

पूर्व०—कर्म भी श्रुतिविहित हैं, अतः ऐसा माननेपर श्रुतिसे विरोध उपस्थित होता है । यदि सर्पादिभ्रान्तिजनित ज्ञानका बाध करनेवाले रज्जु आदि विषयक ज्ञानके समान कर्ता आदि कारकविशेषका बाध करके ही आत्मैकत्वके ज्ञानका विधान किया जाता है तो कोई विषय न रहनेके कारण कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियोंका उन

यत्वाद्विरोधः । विहितानि च कर्माणि । स च विरोधो न युक्तः । प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति चेत् ?

(विद्याका विधान करनेवाली श्रुतियों) से विरोध उपस्थित होता है; और कर्मोंका विधान भी किया ही गया है तथा सभी श्रुतियाँ प्रमाणभूत हैं इसलिये पूर्वोक्त विरोधका होना उचित नहीं है—यदि ऐसा कहें तो ?

न; पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुतीनाम् । विद्योपदेशपरा तावच्छ्रुतिः संसारात्पुरुषो मोक्षयितव्य इति संसारहेतोरविद्याया विद्यया निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाशकत्वेन प्रवृत्तेति न विरोधः ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि श्रुतियाँ परम पुरुषार्थका उपदेश करनेमें प्रवृत्त हैं । श्रुति ज्ञानका उपदेश करनेमें तत्पर है । उसे संसारसे पुरुषका मोक्ष कराना है, इसके लिये संसारकी हेतुभूत अविद्याकी विद्याके द्वारा निवृत्ति करना आवश्यक है; अतः वह विद्याका प्रकाश करनेवाली होकर प्रवृत्त हुई है । इसलिये ऐसा माननेसे कोई विरोध नहीं आता ।

एवमपि कर्त्रादिकारकसद्भावप्रतिपादनपरं शास्त्रं विरुध्यत एवेति चेत् ?

पूर्व०—किन्तु ऐसा माननेपर भी तो कर्तादि कारककी सत्ताका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका तो उससे विरोध होता ही है ?

न; यथाप्राप्तमेव कारकास्तित्वमुपादायोपात्तदुरितक्षयार्थं कर्माणि विदधच्छास्त्रं मुमुक्षूणां

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; स्वभावतः प्राप्त कारकोंके अस्तित्वको स्वीकार कर सञ्चित पापोंके क्षयके लिये कर्मोंका विधान करनेवाला शास्त्र मुमुक्षुओं और फलकी

फलार्थिनां च फलसाधनं न कारकास्तित्वे व्याप्रियते। उपचितदुरितप्रतिबन्धस्य हि विद्योत्पत्तिर्नावकल्पते। तत्क्षये च विद्योत्पत्तिः स्यात्ततश्चाविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसारोपरमः।

इच्छावालोंको [उनके इष्ट] फलकी प्राप्ति करानेका साधन है; वह कारकोंका अस्तित्व सिद्ध करनेमें प्रवृत्त नहीं है। जिस पुरुषका सञ्चित पापरूप प्रतिबन्ध विद्यमान रहता है उसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; उसका क्षय हो जानेपर ही ज्ञान होता है और तभी अविद्याकी निवृत्ति होती है तथा उसके अनन्तर ही संसारकी आत्यन्तिक उपरति होती है।

ज्ञानादेव तु कैवल्यम्

अपि चानात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः। कामयमानश्च करोति कर्माणि। ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद्युपादानलक्षणः संसारः। तद्व्यतिरेकेणात्मैकत्वदर्शिनो विषयाभावात्कामानुत्पत्तिरात्मनि चानन्यत्वात्कामानुत्पत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष इत्यतोऽपि विद्याकर्मणोर्विरोधः।

इसके सिवा जो पुरुष अनात्मदर्शी है उसे ही अनात्मवस्तु-सम्बन्धिनी कामना हो सकती है; कामनावाला ही कर्म करता है और उसीसे उनका फल भोगनेके लिये उसे शरीरादिग्रहणरूप संसारकी प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जो आत्मैकत्वदर्शी है उसकी दृष्टिमें विषयोंका अभाव होनेके कारण उसे उनकी कामना भी नहीं हो सकती। आत्मा तो अपनेसे अभिन्न है, इसलिये उसकी कामना भी असम्भव होनेके कारण उसे स्वात्मस्वरूपमें स्थित होनारूप मोक्ष सिद्ध ही है। इसलिये भी ज्ञान और कर्मका विरोध

विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति न कर्माण्यपेक्षते ।

स्वात्मलाभे तु पूर्वोपचितप्रतिबन्धापनयद्वारेण विद्याहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानीति । अत एवास्मिन्प्रकरण उपन्यस्तानि कर्माणीत्यवोचाम । एवं चाविरोधः कर्मविधिश्रुतीनाम् अतः केवलाया एव विद्यायाः परं श्रेय इति सिद्धम् ।

एवं तर्ह्याश्रमान्तरानुपपत्तिः । कर्मनिमित्तत्वाद्विद्योत्पत्तेः । गार्हस्थ्ये च विहितानि कर्माणीत्यैकाश्रम्यमेव । अतश्च यावज्जीवादिश्रुतयोऽनुकूलतराः ।

न; कर्मानेकत्वात् । न ह्यग्निहोत्रादीन्येव कर्माणि । ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसे-

ज्ञानसाधकानि कर्माणि

है और विरोध होनेके कारण ही ज्ञान मोक्षके प्रति कर्मकी अपेक्षा नहीं रखता ।

हाँ, आत्मलाभमें पूर्वसञ्चित पापरूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा नित्यकर्म ज्ञानप्राप्तिके हेतु अवश्य होते हैं । इसीलिये इस प्रकरणमें कर्मोंका उल्लेख किया गया है—यह हम पहले ही कह चुके हैं । इस प्रकार भी कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियोंका [विद्याविधायिनी श्रुतियोंसे] विरोध नहीं है । अतः यह सिद्ध हुआ कि केवल विद्यासे ही परमश्रेयकी प्राप्ति होती है ।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तब तो [गृहस्थाश्रमके सिवा] अन्य आश्रमोंका होना भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि विद्याकी उत्पत्ति तो कर्मके निमित्तसे होती है और कर्मोंका विधान केवल गृहस्थके ही लिये किया गया है; अतः इससे एकाश्रमत्वकी ही सिद्धि होती है । और इसलिये 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि श्रुतियाँ और भी अनुकूल ठहरती हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि कर्म तो अनेक हैं । केवल अग्निहोत्र आदि ही कर्म नहीं हैं । ब्रह्मचर्य, तप, सत्यभाषण, शम, दम और अहिंसा आदि अन्य कर्म

त्येवमादीन्यपि कर्माणीतराश्रमप्रसिद्धानि विद्योत्पत्तौ साधकतमान्यसंकीर्णत्वाद्विद्यन्ते ध्यानधारणादिलक्षणानि च । वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३ । २—५) इति ।

भी इतर आश्रमोंके लिये प्रसिद्ध ही हैं । वे तथा ध्यान-धारणादिरूप कर्म [हिंसा आदि दोषोंसे] असंकीर्ण होनेके कारण ज्ञानकी उत्पत्तिमें सर्वोत्तम साधन हैं । आगे (भृगु० २ । ५ में) यह कहेंगे भी कि "तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" ।

ज्ञानप्राप्तौ गार्हस्थ्यस्य आनर्थक्यम्

जन्मान्तरकृतकर्मभ्यश्च प्रागपि गार्हस्थ्याद्विद्योत्पत्तिसंभवात्कर्मार्थत्वाच्च गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः कर्मसाध्यायां च विद्यायां सत्यां गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिरनर्थिकैव ।

जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे तो गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेसे पूर्व भी ज्ञानकी उत्पत्ति होना सम्भव है । तथा गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति केवल कर्मोंके ही लिये की जाती है । अतः कर्मसाध्य ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर तो गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति भी व्यर्थ ही है ।

लोकार्थत्वाच्च पुत्रादीनाम्; पुत्रादिसाध्येभ्यश्चायं लोकः पितृलोको देवलोक इत्येतेभ्यो व्यावृत्तकामस्य नित्यसिद्धात्मलोकदर्शिनः कर्मणि प्रयोजनमपश्यतः कथं प्रवृत्तिरुपपद्यते । प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्या-

इसके सिवा पुत्रादि साधन तो लोकोंकी प्राप्तिके लिये हैं । पुत्रादि साधनोंसे सिद्ध होनेवाले उन इहलोक, पितृलोक एवं देवलोक आदिसे जिसकी कामना निवृत्त हो गयी है, नित्यसिद्ध आत्माका साक्षात्कार करनेवाले एवं कर्मोंमें कोई प्रयोजन न देखनेवाले उस ब्रह्मवेत्ताकी कर्मोंमें कैसे प्रवृत्ति हो सकती है ? जिसने गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया है उसे भी, जब ज्ञानकी

परिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयोजनमपश्यतः कर्मभ्यो निवृत्तिरेव स्यात् । "प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि" (बृ० उ० ४ । ५ । २) इत्येवमादिश्रुतिलिङ्गदर्शनात् ।

प्राप्ति होती है और ज्ञानके परिपाकसे विषयोंमें वैराग्य होता है तो, कर्मोंमें अपना कोई प्रयोजन न देखकर उनसे निवृत्ति ही होगी । इस विषयमें "अरी मैत्रेयि ! अब मैं इस स्थानसे संन्यास करना चाहता हूँ" इत्यादि श्रुतिरूप लिंग भी देखा जाता है ।

कर्म प्रति श्रुतेर्यत्नाधिक्यदर्शनादयुक्तमिति चेदग्निहोत्रादिकर्म प्रति श्रुतेरधिको यत्नो महांश्च कर्मण्यायासोऽनेकसाधनसाध्यत्वादग्निहोत्रादीनाम् । तपोब्रह्मचर्यादीनां चेतराश्रमकर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वादल्पसाधनापेक्षत्वाच्चेतरेषां न युक्तस्तुल्यवद्विकल्प आश्रमिभिस्तस्येति चेत् ।

*पूर्व*०—किन्तु कर्मके प्रति श्रुतिका अधिक प्रयत्न देखनेसे तो यह बात ठीक नहीं जान पड़ती?—अग्निहोत्रादि कर्मके प्रति श्रुतिका विशेष प्रयत्न है; कर्मानुष्ठानमें आयास भी अधिक है, क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म अनेक साधनोंसे सिद्ध होनेवाले हैं । अन्य आश्रमोंके कर्म तप और ब्रह्मचर्यादि तो गृहस्थाश्रममें भी उन्हींके समान कर्तव्य तथा अल्पसाधनकी अपेक्षावाले हैं; अतः अन्य आश्रमियोंके साथ गृहस्थाश्रमको समान-सा मानना तो उचित नहीं है ?

न; जन्मान्तरकृतानुग्रहात् । यदुक्तं कर्मणि श्रुतेरधिको यत्न इत्यादि नासौ दोषः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनपर जन्मान्तरका अनुग्रह होता है । तुमने जो कहा कि 'कर्मपर श्रुतिका विशेष प्रयत्न है' इत्यादि, सो यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि

यतो जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादिलक्षणं चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति । येन जन्मनैव विरक्ता दृश्यन्ते केचित् । केचित्तु कर्मसु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वेषिणः । तस्माज्जन्मान्तरकृतसंस्कारेभ्यो विरक्तानामाश्रमान्तरप्रतिपत्तिरेवेष्यते ।

जन्मान्तरमें किया हुआ भी अग्निहोत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादिरूप कर्म ज्ञानकी उत्पत्तिमें उपयोगी होता है, जिससे कि कोई लोग तो जन्मसे ही विरक्त देखे जाते हैं और कोई कर्ममें तत्पर, वैराग्यशून्य एवं ज्ञानके विरोधी दीख पड़ते हैं। अतः जन्मान्तरके संस्कारोंके कारण जो विरक्त हैं उन्हें तो [गृहस्थाश्रमसे भिन्न] अन्य आश्रमोंको स्वीकार करना ही इष्ट होता है ।

कर्मविधौ श्रुतेः प्रयासप्रयोजनम्

कर्मफलबाहुल्याच्च; पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात्, तत्प्रति च पुरुषाणां कामबाहुल्यात्तदर्थः श्रुतेरधिको यत्नः कर्मसूपपद्यते । आशिषां बाहुल्यदर्शनादिदं मे स्यादिदं मे स्यादिति ।

कर्मफलोंकी अधिकता होनेके कारण भी [श्रुतिमें उनका विशेष विस्तार है] । पुत्र, स्वर्ग एवं ब्रह्मतेज आदि कर्मफल असंख्येय होनेके कारण और उनके लिये पुरुषोंकी कामनाओंकी अधिकता होनेसे भी कर्मोंके प्रति श्रुतिका अधिक यत्न होना उचित ही है, क्योंकि 'मुझे यह मिले, मुझे यह मिले' इस प्रकार कामनाओंकी बहुलता भी देखी ही जाती है ।

उपायत्वाच्च; उपायभूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवोचाम । उपायेऽधिको यत्नः कर्तव्यो नोपेये ।

उपायरूप होनेके कारण भी [श्रुतिका उनमें विशेष प्रयत्न है] । कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें उपायरूप हैं—ऐसा हम पहले कह चुके हैं; तथा प्रयत्न उपायमें ही अधिक करना चाहिये, उपेयमें नहीं ।

कर्मनिमित्तत्वाद्विद्याया यत्नान्तरानर्थक्यमिति चेत्कर्मभ्य एव पूर्वोपचितदुरितप्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते चेत्कर्मभ्यः पृथगुपनिषच्छ्रवणादियत्नोऽनर्थक इति चेत् ।

पूर्व०—ज्ञान कर्मके निमित्तसे होनेवाला है, इसलिये भी अन्य प्रयत्नकी निरर्थकता सिद्ध होती है यदि कर्मोंके द्वारा ही पूर्वसञ्चित पापरूप प्रतिबन्धका क्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तो कर्मोंसे भिन्न उपनिषच्छ्रवणादिविषयक प्रयत्न व्यर्थ ही है। ऐसा मानें तो ?

न; नियमाभावात् । न हि प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते न त्वीश्वरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठानादिति नियमोऽस्ति । अहिंसाब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युपकारकत्वात्साक्षादेव च कारणत्वाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनानाम् । अतः सिद्धान्याश्रमान्तराणि सर्वेषां चाधिकारो विद्यायां परं च श्रेयः केवलाया विद्याया एवेति सिद्धम् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है—'ज्ञानकी उत्पत्ति प्रतिबन्धके क्षयसे ही होती है, ईश्वरकृपा तप एवं ध्यानादिके अनुष्ठानसे नहीं हो सकती' ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि अहिंसा एवं ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्तिमें उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि तो उसके साक्षात् कारण ही हैं। अतः अन्य आश्रमोंका होना सिद्ध ही है, तथा ज्ञानमें सभी आश्रमियोंका अधिकार है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमश्रेयकी प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है।

इति शीक्षावल्ल्यामेकादशोऽनुवाकः ॥ ११ ॥

द्वादश अनुवाक

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गशमनार्थं शान्तिं पठति—

पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्तिपाठ किया जाता है—

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥ १ ॥

मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिये सुखकर हो । वरुण हमारे लिये सुखावह हो । अर्यमा हमारे लिये सुखप्रद हो । इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिये शान्तिदायक हों । तथा जिसका पादविक्षेप बहुत विस्तृत है वह विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो । ब्रह्म [रूप वायु] को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम्हींको हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है । तुम्हींको ऋत कहा है । तुम्हींको सत्य कहा है । अतः तुमने मेरी रक्षा की है तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले आचार्यकी भी रक्षा की है । मेरी रक्षा की है और वक्ताकी भी रक्षा की है । त्रिविध तापकी शान्ति हो ॥ १ ॥

व्याख्यातमेतत्पूर्वम् ॥ १ ॥

इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां द्वादशोऽनुवाकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये
शीक्षावल्ली समाप्ता ॥

ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मानन्दवल्लीका शान्तिपाठ

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रशमनार्था शान्तिः पठिता। इदानीं तु वक्ष्यमाणब्रह्मविद्याप्राप्त्युपसर्गोपशमनार्था शान्तिः पठ्यते—

पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्तिपाठ कर दिया गया। अब आगे कही जानेवाली विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्तिपाठ किया जाता है—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

[वह परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनोंका साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ वीर्यलाभ करें, हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो और हम परस्पर द्वेष न करें। तीनों प्रकारके प्रतिबन्धोंकी शान्ति हो।

सह नाववतु—नौ शिष्याचार्यौ सहैवावतु रक्षतु। सह नौ भुनक्तु भोजयतु। सह वीर्यं विद्यादिनिमित्तं सामर्थ्यं करवावहै निर्वर्तयावहै। तेजस्वि नावावयोस्तेजस्विनोरधीतं स्वधीतमस्तु, अर्थज्ञानयोग्यमस्त्वित्यर्थः। मा विद्विषावहै; विद्याग्रहणनिमित्तं शिष्यस्याचार्यस्य वा प्रमादकृतादन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तस्तच्छमनाय इयमाशीर्मा विद्विषावहा इति। मैवेतरेतरं विद्वेषमापद्यावहै।

शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमुक्तार्थम्। वक्ष्यमाणविद्याविघ्नप्रशमनार्था चेयं शान्तिः। अविघ्नेनात्मविद्याप्राप्तिराशास्यते तन्मूलं हि परं श्रेय इति।

'सह नाववतु'—[वह ब्रह्म] हम आचार्य और शिष्य दोनोंकी साथ-साथ ही रक्षा करे और हमारा साथ-साथ भरण अर्थात् पालन करे। हम साथ-साथ वीर्य यानी विद्याजनित सामर्थ्य सम्पादन करें; हम दोनों तेजस्वियोंका अध्ययन किया हुआ तेजस्वी—सम्यक् प्रकारसे अध्ययन किया हुआ अर्थात् अर्थ-ज्ञानके योग्य हो तथा हम विद्वेष न करें। विद्या-ग्रहणके कारण शिष्य अथवा आचार्यका प्रमादकृत अन्यायसे द्वेष हो सकता है; उसकी शान्तिके लिये 'मा विद्विषावहै' ऐसी कामना की गयी है। तात्पर्य यह है कि हम एक-दूसरेके विद्वेषको प्राप्त न हों।

'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार तीन बार 'शान्ति' शब्द उच्चारण करनेका प्रयोजन पहले कहा जा चुका है। यह शान्तिपाठ आगे कही जानेवाली विद्याके विघ्नोंकी शान्तिके लिये है। इसके द्वारा निर्विघ्नतापूर्वक आत्मविद्याकी प्राप्ति-की कामना की गयी है, क्योंकि वही परम श्रेयका भी मूल कारण है।

ब्रह्मज्ञानके फल, सृष्टिक्रम और अन्नमयकोशरूप पक्षीका वर्णन

उपक्रमः संहितादिविषयाणि कर्मभिरविरुद्धान्युपासनान्युक्तानि। अनन्तरं चान्तःसोपाधिकात्मदर्शनमुक्तं व्याहृतिद्वारेण स्वाराज्यफलम्। न चैतावताशेषतः संसारबीजस्योपमर्दनमस्तीत्यतोऽशेषोपद्रवबीजस्याज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं विधूतसर्वोपाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिदमारभ्यते ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादि।

प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया अविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसाराभावः। वक्ष्यति च—"विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २। ९। १) इति। संसारनिमित्ते च सत्यभयं प्रतिष्ठां च विन्दत इत्यनुपपन्नम्, कृताकृते पुण्यपापे न तपत इति च। अतोऽवगम्यतेऽस्माद्विज्ञानात्सर्वात्मब्रह्मविषयादात्यन्तिकः संसाराभाव इति।

कर्मसे अविरुद्ध संहितादिविषयक उपासनाओंका पहले वर्णन किया गया। उसके पश्चात् व्याहृतियोंके द्वारा स्वाराज्यरूप फल देनेवाला हृदयस्थित सोपाधिक आत्मदर्शन कहा गया। किन्तु इतनेहीसे संसारके बीजका पूर्णतया नाश नहीं हो जाता। अतः सम्पूर्ण उपद्रवोंके बीजभूत अज्ञानकी निवृत्तिके निमित्त इस सर्वोपाधिरूप विशेषसे रहित आत्माका साक्षात्कार करानेके लिये अब 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि मन्त्र आरम्भ किया जाता है।

इस ब्रह्मविद्याका प्रयोजन अविद्याकी निवृत्ति है; उससे संसारका आत्यन्तिक अभाव होता है। यही बात "ब्रह्मवेत्ता किसीसे नहीं डरता" इत्यादि वाक्यसे श्रुति आगे कहेगी भी। संसारके निमित्त [अज्ञान] के रहते हुए 'पुरुष अभय स्थितिको प्राप्त कर लेता है; तथा उसे कृत और अकृत अर्थात् पुण्य और पाप ताप नहीं पहुँचाते' ऐसा मानना सर्वथा अयुक्त है। इससे जाना जाता है कि इस सर्वात्मक ब्रह्मविषयक विज्ञानसे ही संसारका आत्यन्तिक अभाव होता है।

स्वयमेव च प्रयोजनमाह ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादावेव संबन्धप्रयोजनज्ञापनार्थम् । निर्ज्ञातयोर्हि सम्बन्धप्रयोजनयोर्विद्याश्रवणग्रहणधारणाभ्यासार्थं प्रवर्तते । श्रवणादिपूर्वकं हि विद्याफलम् "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० उ० २ । ४ । ५) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः ।

इस प्रकरणके सम्बन्ध और प्रयोजनका ज्ञान करानेके लिये श्रुतिने स्वयं ही 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि वाक्यसे आरम्भमें ही इसका प्रयोजन बतला दिया है, क्योंकि सम्बन्ध और प्रयोजनोंका ज्ञान हो जानेपर ही पुरुष विद्याके श्रवण, ग्रहण, धारण और अभ्यासके लिये प्रवृत्त हुआ करता है । "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि दूसरी श्रुतियोंसे यह भी निश्चय होता ही है कि विद्याका फल श्रवणादिपूर्वक होता है ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है । उसके विषयमें यह [श्रुति] कही गयी है—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।' जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाशमें निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे एक साथ ही सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है । उस इस आत्मासे ही आकाश उत्पन्न हुआ । आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल,

जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न एवं रसमय ही है। उसका यह [शिर] ही शिर है, यह [दक्षिण बाहु] ही दक्षिण पक्ष है, यह [वाम बाहु] वामपक्ष है, यह [शरीरका मध्यभाग] आत्मा है और यह [नीचेका भाग] पुच्छ प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिनिरूपणम्

ब्रह्मविद्ब्रह्मेति वक्ष्यमाणलक्षणं बृहत्तमत्वाद्ब्रह्म तद्वेत्ति विजानातीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परम्। न ह्यन्यस्य विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिः। स्पष्टं च श्रुत्यन्तरं ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्मविदो दर्शयति "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३। २। ९) इत्यादि।

ननु सर्वगतं सर्वस्यात्मभूतं ब्रह्म वक्ष्यति। अतो नाप्यम्। प्राप्तिश्चान्यस्यान्येन परिच्छिन्नस्य च परिच्छिन्नेन दृष्टा। अपरिच्छिन्नं सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः परिच्छिन्नवदनात्मवच्च तस्याप्तिरनुपपन्ना।

'ब्रह्मवित्'—ब्रह्म, जिसका लक्षण आगे कहा जायगा और जो सबसे बड़ा होनेके कारण 'ब्रह्म' कहलाता है, उसे जो जानता है उसका नाम 'ब्रह्मवित्' है; वह ब्रह्मवित् उस परम—निरतिशय ब्रह्मको ही 'आप्नोति'—प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अन्यके विज्ञानसे किसी अन्यकी प्राप्ति नहीं हुआ करती। "वह, जो कि निश्चय ही उस परब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है" यह एक दूसरी श्रुति ब्रह्मवेत्ताको स्पष्टतया ब्रह्मकी ही प्राप्ति होना प्रदर्शित करती है।

शंका—ब्रह्म सर्वगत और सबका आत्मा है—ऐसा आगे कहेंगे; इसलिये वह प्राप्तव्य नहीं हो सकता। प्राप्ति तो अन्य परिच्छिन्न पदार्थकी किसी अन्य परिच्छिन्न पदार्थद्वारा ही होती देखी गयी है। किन्तु ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न और सर्वात्मक है; इसलिये परिच्छिन्न और अनात्मपदार्थके समान उसकी प्राप्ति होनी असम्भव है।

नायं दोषः; कथम् ? दर्शनादर्शनापेक्षत्वाद्ब्रह्मण आप्त्यनाप्त्योः । परमार्थतो ब्रह्मरूपस्यापि सतोऽस्य जीवस्य भूतमात्राकृतबाह्यपरिच्छिन्नान्नमयाद्यात्मदर्शिनस्तदासक्तचेतसः प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्मनोऽव्यवहितस्यापि बाह्यसंख्येयविषयासक्तचित्ततया स्वरूपाभावदर्शनवत्परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शनलक्षणयाविद्ययान्नमयादीन्बाह्यानात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्नत्वादन्नमयाद्यनात्मभ्यो नान्योऽहमस्मीत्यभिमन्यते । एवमविद्ययात्मभूतमपि ब्रह्मानाप्तं स्यात् ।

समाधान—यह कोई दोषकी बात नहीं है; किस प्रकार नहीं है ? क्योंकि ब्रह्मकी प्राप्ति और अप्राप्ति तो उसके साक्षात्कार और असाक्षात्कारकी अपेक्षासे हैं । जिस प्रकार [दशम पुरुषके लिये] प्रकृत (दशम) संख्याकी पूर्ति करनेवाला अपना-आप* सर्वथा अव्यवहित होनेपर भी संख्या करने योग्य बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त रहनेके कारण वह अपने स्वरूपका अभाव देखता है उसी प्रकार पञ्चभूत तन्मात्राओंसे उत्पन्न हुए बाह्य परिच्छिन्न अन्नमय कोशादिमें आत्मभाव देखनेवाला यह जीव परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी उनमें आसक्त हो जाता है और अपने परमार्थ ब्रह्मस्वरूपका अभाव देखनारूप अविद्यासे अन्नमय कोश आदि बाह्य अनात्माओंको आत्मस्वरूपसे देखनेके कारण 'मैं अन्नमय आदि अनात्माओंसे भिन्न नहीं हूँ' ऐसा अभिमान करने लगता है । इसी प्रकार अपना आत्मा होनेपर भी अविद्यावश ब्रह्म अप्राप्त ही है ।

* इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक बार दश मनुष्य यात्रा कर रहे थे । रास्तेमें एक नदी पड़ी । जब उसे पार कर वे उसके दूसरे तटपर पहुँचे तो यह जाननेके लिये कि हममेंसे कोई बह तो नहीं गया अपनेको गिनने लगे । उनमेंसे जो भी गिनना आरम्भ करता वह अपनेको छोड़कर शेष नौको ही गिनता । इस प्रकार एककी कमी रहनेके कारण वे यह समझकर कि हममेंसे एक आदमी नदीमें बह गया है खिन्न हो रहे थे । इतनेहीमें एक बुद्धिमान्

तस्यैवमविद्ययानाप्तब्रह्मस्वरूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्मनोऽविद्ययानाप्तस्य सतः केनचित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव विद्ययाप्तिर्यथा तथा श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव ।

जिस प्रकार प्रकृत (दशम) संख्याको पूर्ण करनेवाला अपना-आप अविद्यावश अप्राप्त रहता है और फिर किसीके द्वारा स्मरण करा दिये जानेपर विद्याद्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार अविद्यावश जिसके ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती उस सबके आत्मभूत श्रुत्युपदिष्ट ब्रह्मकी आत्मदर्शनरूप विद्याके द्वारा प्राप्ति होनी उचित ही है ।

उत्तरग्रन्थावतरणिका

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्यं सूत्रभूतम् । सर्वस्य वल्ल्यर्थस्य ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यनेन वाक्येन वेद्यतया सूत्रितस्य ब्रह्मणोऽनिर्धारितस्वरूपविशेषस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपविशेषसमर्पणसमर्थस्य लक्षणस्याविशेषेण चोक्तवेदनस्य ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह वाक्य सूत्रभूत है । जो सम्पूर्ण वल्लीके अर्थका विषय है, जिसका 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस वाक्यद्वारा ज्ञातव्यरूपसे सूत्रतः उल्लेख किया गया है, उस ब्रह्मके ऐसे लक्षणका—जिसके विशेष रूपका निश्चय नहीं किया गया है और जो सम्पूर्ण वस्तुओंसे व्यावृत्त स्वरूपविशेषका ज्ञान करानेमें समर्थ है—वर्णन करते हुए स्वरूपका निश्चय करानेके लिये तथा जिसके ज्ञानका सामान्यरूपसे वर्णन कर दिया गया है उस आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त ब्रह्मको

पुरुष उधर आ निकला । उसने सब वृत्तान्त जानकर उन्हें एक लाइनमें खड़ा किया और हाथमें डण्डा लेकर एक, दो, तीन—इस प्रकार गिनते हुए हर एकके एक-एक डण्डा लगाकर उन्हें दश होनेका निश्चय करा दिया और यह भी दिखला दिया कि वह दशवाँ पुरुष स्वयं गिननेवाला ही था जो दूसरोंमें आसक्तचित्त रहनेके कारण अपनेको भूले हुए था ।

विशेषेण प्रत्यगात्मतयानन्यरूपेण विज्ञेयत्वाय, ब्रह्मविद्याफलं च ब्रह्मविदो यत्परब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तं स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वमेव नान्यदित्येतत्प्रदर्शनार्थैषर्गुदाहियते—तदेषाभ्युक्तेति ।

तत्तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्योक्तेऽर्थ एषर्गभ्युक्ताम्नाता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थं वाक्यम् । सत्यादीनि हि त्रीणि विशेषणार्थानि पदानि विशेष्यस्य ब्रह्मणः । विशेष्यं ब्रह्म विवक्षितत्वाद्वेद्यतया । वेद्यत्वेन यतो ब्रह्म प्राधान्येन विवक्षितं तस्माद्विशेष्यं विज्ञेयम् । अतः अस्माद् विशेषणविशेष्यत्वादेव सत्यादीनि एकविभक्त्यन्तानि पदानि समानाधिकरणानि । सत्यादि-

विशेषतः 'अपना अन्तरात्मा होनेसे अनन्यरूपसे जाननेयोग्य है' ऐसा प्रतिपादन करनेके लिये और यह दिखलानेके लिये कि—ब्रह्मवेत्ताको जो परमात्माकी प्राप्तिरूप ब्रह्मविद्याका फल बतलाया गया है वह सर्वात्मभाव सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे अतीत ब्रह्मस्वरूपता ही है—और कुछ नहीं है—'तदेषाभ्युक्ता' यह ऋचा कही जाती है ।

तत्—उस ब्राह्मणवाक्यद्वारा बतलाये हुए अर्थमें ही [सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म] यह ऋचा कही गयी है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्मका लक्षण करनेके लिये है । 'सत्य' आदि तीन पद विशेष्य ब्रह्मके विशेषण बतलानेके लिये हैं । वेद्यरूपसे विवक्षित (बतलाये जानेको इष्ट) होनेके कारण ब्रह्म विशेष्य है । क्योंकि ब्रह्म प्रधानतया वेद्यरूपसे (ज्ञानके विषयरूपसे) विवक्षित है; इसलिये उसे विशेष्य समझना चाहिये । अतः इस विशेषण-विशेष्यभावके कारण एक ही विभक्तिवाले 'सत्य' आदि तीनों पद समानाधिकरण हैं । सत्य आदि

भिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते । एवं हि तज्ज्ञातं भवति यदन्येभ्यो निर्धारितम् । यथा लोके नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलमिति ।

निर्विशेषस्य विशेषणवत्त्वे आक्षेपः ननु विशेष्यं विशेषणान्तरं व्यभिचरद्विशेष्यते । यथा नीलं रक्तं चोत्पलमिति । यदा ह्यनेकानि द्रव्याण्येकजातीयान्यनेकविशेषणयोगीनि च तदा विशेषणस्यार्थवत्त्वम् । न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि विशेषणान्तरायोगात् । यथासावेक आदित्य इति, तथैकमेव च ब्रह्म न ब्रह्मान्तराणि येभ्यो विशेष्येत नीलोत्पलवत् ।

ब्रह्मविशेषणानां तल्लक्षणार्थत्वम् न; लक्षणार्थत्वाद्विशेषणानाम् । नायं दोषः; कस्मात् ? यस्माल्लक्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि न

तीन विशेषणोंसे विशेषित होनेवाला ब्रह्म अन्य विशेष्योंसे पृथग्रूपसे निश्चय किया जाता है। जिसका अन्य पदार्थोंसे पृथग्रूपसे निश्चय किया गया है उसका इसी प्रकार ज्ञान हुआ करता है; जैसे लोकमें 'नील' विशाल और सुगन्धित कमल [—ऐसा कहकर ऐसे कमलका अन्य कमलोंसे पृथग्रूपसे निश्चय किया जाता है] ।

शंका—अन्य विशेषणोंका व्यावर्तन करनेपर ही कोई विशेष विशेषित हुआ करता है; जैसे—नीला अथवा लाल कमल। जिस समय अनेक द्रव्य एक ही जातिके और अनेक विशेषणोंकी योग्यतावाले होते हैं तभी विशेषणोंकी सार्थकता होती है। एक ही वस्तुमें, किसी अन्य विशेषणका सम्बन्ध न हो सकनेके कारण, विशेषणकी सार्थकता नहीं होती । जिस प्रकार यह सूर्य एक है उसी प्रकार ब्रह्म भी एक ही है; उसके सिवा अन्य ब्रह्म हैं ही नहीं, जिनसे कि नील कमलके समान उसकी विशेषता बतलायी जाय ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये विशेषण लक्षणके लिये हैं। [अब इस सूत्ररूप वाक्यकी ही व्याख्या करते हैं—] यह दोष नहीं हो सकता; क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि ये विशेषण लक्षणार्थ-

विशेषणप्रधानान्येव । कः पुनर्लक्षणलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा विशेष इति ? उच्यते; समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य । लक्षणं तु सर्वत एव यथावकाशप्रदात्राकाशमिति । लक्षणार्थं च वाक्यमित्यवोचाम ।

प्रधान हैं, केवल विशेषणप्रधान ही नहीं हैं । किन्तु लक्षण-लक्ष्य तथा विशेषण-विशेष्यमें विशेषता (अन्तर) क्या है ? सो बतलाते हैं—विशेषण तो अपने विशेष्यका उसके सजातीय पदार्थोंसे ही व्यावर्तन करनेवाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभीसे व्यावृत्त कर देता है; जिस प्रकार अवकाश देनेवाला 'आकाश' होता है—इस वाक्यमें है ।* यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यह वाक्य [आत्माका] लक्षण करनेके लिये है ।

सत्यादिशब्दा न परस्परं संबध्यन्ते परार्थत्वात् । विशेष्यार्था हि ते । अत एकैको विशेषणशब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्मशब्देन संबध्यते सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति ।

सत्यादि शब्द परार्थ (दूसरेके लिये) होनेके कारण परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं । वे तो विशेष्यके ही लिये हैं । अतः उनमेंसे प्रत्येक विशेषणशब्द परस्पर एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखकर ही 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार 'ब्रह्म' शब्दसे सम्बन्धित है ।

सत्यमित्यस्य व्याख्यानम्

सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम् । यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभि-

सत्यम्—जो पदार्थ जिस रूपसे निश्चय किया गया है उससे व्यभिचरित न होनेके कारण वह सत्य कहलाता है । जो पदार्थ जिस रूपसे निश्चित किया गया है उस रूपसे

* इस वाक्यमें 'अवकाश देनेवाला' यह पद उसके सजातीय अन्य महाभूतोंसे तथा विजातीय आत्मा आदिसे भी व्यावृत्त कर देता है ।

चरदनृतमित्युच्यते । अतो विकारोऽनृतम् । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात् । अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति ।

व्यभिचरित होनेपर वह मिथ्या कहा जाता है । इसलिये विकार मिथ्या है । "विकार केवल वाणीसे आरम्भ होनेवाला और नाममात्र है, बस, मृत्तिका ही सत्य है" इस प्रकार निश्चय किया जानेके कारण सत् ही सत्य है । अतः 'सत्यं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्मको विकारमात्रसे निवृत्त करता है ।

अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः ।

ज्ञानमित्यस्य तात्पर्यम् ज्ञानकर्तृत्वाभावनिरूपणं च

कारणस्य च कारकत्वं वस्तुत्वान्मृद्वदचिद्रूपता च प्राप्तात इदमुच्यते ज्ञानं ब्रह्मेति । ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोधः, भावसाधनो ज्ञानशब्दो न तु ज्ञानकर्तृ ब्रह्मविशेषणत्वात्सत्यानन्ताभ्यां सह । न हि सत्यतानन्तता च ज्ञानकर्तृत्वे सत्युपपद्यते । ज्ञानकर्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कथं सत्यं भवेदनन्तं च । यद्धि न

इससे ब्रह्मका कारणत्व प्राप्त होता है और वस्तुरूप होनेसे कारणमें कारकत्व रहा करता है । अतः मृत्तिकाके समान उसकी जडरूपताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है । इसीसे 'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहा है । 'ज्ञान' ज्ञप्ति यानी अवबोधको कहते हैं । 'ज्ञान' शब्द भाववाचक है; 'सत्य' और 'अनन्त' के साथ ब्रह्मका विशेषण होनेके कारण उसका अर्थ 'ज्ञानकर्ता' नहीं हो सकता । उसका ज्ञानकर्तृत्व स्वीकार करनेपर ब्रह्मकी सत्यता और अनन्तता सम्भव नहीं है । ज्ञानकर्तारूपसे विकारको प्राप्त होनेवाला होकर ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे हो सकता है ? जो किसीसे भी

कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम् । ज्ञानकर्तृत्वे च ज्ञेयज्ञानाभ्यां प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात् । "यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्" (छा० उ० ७ । २४ । १) इति श्रुत्यन्तरात् ।

विभक्त नहीं होता वही अनन्त हो सकता है । ज्ञानकर्ता होनेपर तो वह ज्ञेय और ज्ञानसे विभक्त होगा; इसलिये उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी । "जहाँ किसी दूसरेको नहीं जानता वह भूमा है और जहाँ किसी दूसरेको जानता है वह अल्प है" इस एक दूसरी श्रुतिसे यही सिद्ध होता है ।

नान्यद्विजानातीति विशेषप्रतिषेधादात्मानं विजानातीति चेन्न; भूमलक्षणविधिपरत्वाद्वाक्यस्य । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादि भूम्नो लक्षणविधिपरं वाक्यम् । यथा प्रसिद्धमेवान्योऽन्यत्पश्यतीत्येतदुपादाय यत्र तन्नास्ति स भूमेति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्यते । अन्यग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थत्वान्न स्वात्मनि क्रियास्तित्वपरं वाक्यम् । स्वात्मनि च भेदा-

इस श्रुतिमें 'दूसरेको नहीं जानता' इस प्रकार विशेषका प्रतिषेध होनेके कारण वह स्वयं अपनेको ही जानता है—ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो ठीक नहीं, क्योंकि यह वाक्य भूमाके लक्षणका विधान करनेमें प्रवृत्त है । 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि वाक्य भूमाके लक्षणका विधान करनेमें तत्पर है । अन्य अन्यको देखता है—इस लोकप्रसिद्ध वस्तुस्थितिको स्वीकार कर 'जहाँ ऐसा नहीं है वह भूमा है'—इस प्रकार उसके द्वारा भूमाके स्वरूपका बोध कराया जाता है । 'अन्य' शब्दका ग्रहण तो यथाप्राप्त द्वैतका प्रतिषेध करनेके लिये है; अतः यह वाक्य अपनेमें क्रियाका अस्तित्व प्रतिपादन करनेके लिये नहीं है । और स्वात्मामें तो भेदका अभाव होनेके कारण उसका विज्ञान होना

भावाद्विज्ञानानुपपत्तिः । आत्मनश्च विज्ञेयत्वे ज्ञात्रभावप्रसङ्गः; ज्ञेयत्वेनैव विनियुक्तत्वात् ।

एक एवात्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वेन चोभयथा भवतीति चेत् ?

न युगपदनंशत्वात् । न हि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वोपपत्तिः । आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञेयत्वे ज्ञानोपदेशानर्थक्यम् । न हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोपदेशोऽर्थवान् । तस्माज्ज्ञातृत्वे सति आनन्त्यानुपपत्तिः । सन्मात्रत्वं चानुपपन्नं ज्ञानकर्तृत्वादिविशेषवत्त्वे सति । सन्मात्रत्वं च सत्यत्वम्, "तत्सत्यम्" (छा० उ० ६ । ८ । १६) इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विशे-

सम्भव ही नहीं है । आत्माका विज्ञेयत्व स्वीकार करनेपर तो ज्ञाताके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, क्योंकि वह तो विज्ञेयरूपसे ही विनियुक्त (प्रयुक्त) हो चुका है । [अब उसे ज्ञाता कैसे माना जाय ?]

शंका—एक ही आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता दोनों प्रकारसे हो सकता है—ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं, वह अंशरहित होनेके कारण एक साथ उभयरूप नहीं हो सकता । निरवयव ब्रह्मका एक साथ ज्ञेय और ज्ञाता होना सम्भव नहीं है । इसके सिवा यदि आत्मा घटादिके समान विज्ञेय हो तो ज्ञानके उपदेशकी व्यर्थता हो जायगी । जो वस्तु घटादिके समान प्रसिद्ध है उसके ज्ञानका उपदेश सार्थक नहीं हो सकता । अतः उसका ज्ञातृत्व माननेपर उसकी अनन्तता नहीं रह सकती । ज्ञानकर्तृत्वादि विशेषसे युक्त होनेपर उसका सन्मात्रत्व भी सम्भव नहीं है । और "वह सत्य है" इस एक अन्य श्रुतिसे उसका सत्यरूप होना ही सन्मात्रत्व है । अतः 'सत्य' और 'अनन्त' शब्दोंके साथ विशेषण-

षणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगाद्भावसाधनो ज्ञानशब्दः । ज्ञानं ब्रह्मेति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं मृदादिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते ।

रूपसे 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग किया जानेके कारण वह भाववाचक है । अतः 'ज्ञानं ब्रह्म' इस विशेषणका उसके कर्तृत्वादि कारकोंकी निवृत्तिके लिये तथा मृत्तिका आदिके समान उसकी जडरूपताकी निवृत्तिके लिये प्रयोग किया जाता है ।

अनन्तमित्यस्य निरुक्तिः

ज्ञानं ब्रह्मेतिवचनात्प्राप्तमन्तवत्त्वम् । लौकिकस्य ज्ञानस्यान्तवत्त्वदर्शनात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह—अनन्तमिति ।

'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहनेसे ब्रह्मका अन्तवत्त्व प्राप्त होता है, क्योंकि लौकिक ज्ञान अन्तवान् ही देखा गया है । अतः उसकी निवृत्तिके लिये 'अनन्तम्' ऐसा कहा है ।

ब्रह्मणः शून्यार्थत्वमाशङ्क्यते

सत्यादीनामनृतादिधर्मनिवृत्तिपरत्वाद्विशेष्यस्य ब्रह्मण उत्पलादिवदप्रसिद्धत्वात् "मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः । एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः" इतिवच्छून्यार्थतैव प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेत् ?

शंका—सत्यादि शब्द तो अनृतादि धर्मोंकी निवृत्तिके लिये हैं और उनका विशेष्य ब्रह्म कमल आदिके समान प्रसिद्ध नहीं है; अतः "मृगतृष्णाके जलमें स्नान करके शिरपर आकाशकुसुमका मुकुट धारण किये तथा हाथमें शशशृङ्गका धनुष लिये यह वन्ध्याका पुत्र जा रहा है" इस उक्तिके समान इस 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यकी शून्यार्थता ही प्राप्त होती है ।

न; लक्षणार्थत्वात् । विशेषणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थ-

समाधान—नहीं, क्योंकि वे [सत्यादि] लक्षण करनेके लिये हैं ।

प्राधान्यमित्यवोचाम । शून्ये हि लक्ष्येऽनर्थकं लक्षणवचनं लक्षणार्थत्वान्मन्यामहे न शून्यार्थतेति । विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां स्वार्थापरित्याग एव । शून्यार्थत्वे हि सत्यादिशब्दानां विशेष्यनियन्तृत्वानुपपत्तिः । सत्याद्यर्थैरर्थवत्त्वे तु तद्विपरीतधर्मवद्भ्यो विशेष्येभ्यो ब्रह्मणो विशेष्यस्य नियन्तृत्वमुपपद्यते । ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थवानेव । तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारेण विशेषणम् । सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवतः ।

सत्यादि शब्द विशेषण होनेपर भी उनका प्रधान प्रयोजन लक्षणके लिये होना ही है—यह हम पहले ही कह चुके हैं । यदि लक्ष्य शून्य हो तब तो उसका लक्षण बतलाना भी व्यर्थ ही होगा । अतः लक्षणार्थ होनेके कारण उनकी शून्यार्थता नहीं है—ऐसा हम मानते हैं । विशेषणके लिये होनेपर भी सत्यादि शब्दके अपने अर्थका त्याग तो होता ही नहीं है । यदि सत्यादि शब्दोंकी शून्यार्थता हो तो वे अपने विशेष्यके नियन्ता हैं—ऐसा नहीं माना जा सकता । सत्यादि अर्थोंसे अर्थवान् होनेपर ही उनके द्वारा अपनेसे विपरीत धर्मवाले विशेष्योंसे अपने विशेष्य ब्रह्मका नियन्तृत्व बन सकता है । 'ब्रह्म' शब्द भी अपने अर्थसे अर्थवान् ही है । उन [सत्यादि तीन शब्दों] में 'अनन्त' शब्द उसके अन्तवत्त्वका प्रतिषेध करनेके द्वारा उसका विशेषण होता है तथा 'सत्य' और 'ज्ञान' शब्द तो अपने अर्थके समर्पणद्वारा ही उसके विशेषण होते हैं ।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इति ब्रह्मण्येवात्मशब्दप्रयोगाद्वेदितु-

शंका—"उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ" इस श्रुतिमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग ब्रह्मके ही लिये

रात्मैव ब्रह्म। "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० उ० २।८।५) इति चात्मतां दर्शयति। तत्प्रवेशाच्च; "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २।६।१) इति च तस्यैव जीवरूपेण शरीरप्रवेशं दर्शयति। अतो वेदितुः स्वरूपं ब्रह्म।

एवं तर्ह्यात्मत्वाज्ज्ञानकर्तृत्वम्। आत्मा ज्ञातेति हि प्रसिद्धम्। "सोऽकामयत" (तै० उ० २।६।१) इति च कामिनो ज्ञानकर्तृत्वाज्ज्ञप्तिर्ब्रह्मेत्ययुक्तम्।

अनित्यत्वप्रसङ्गाच्च। यदि नाम ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावरूपता ब्रह्मणस्तथाप्यनित्यत्वं प्रसज्येत पारतन्त्र्यं च। धात्वर्थानां कारकापेक्षत्वात्। ज्ञानं च

किया जानेके कारण ब्रह्म जाननेवालेका आत्मा ही है। "इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है" इस वाक्यसे श्रुति उसकी आत्मता दिखलाती है तथा उसके प्रवेश करनेसे भी [उसका आत्मत्व सिद्ध होता है]। "उसे रचकर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया" ऐसा कहकर श्रुति उसीका जीवरूपसे शरीरमें प्रवेश होना दिखलाती है। अतः ब्रह्म जाननेवालेका स्वरूप ही है।

इस प्रकार आत्मा होनेसे तो उसे ज्ञानका कर्तृत्व सिद्ध होता है। 'आत्मा ज्ञाता है' यह बात तो प्रसिद्ध ही है। "उसने कामना की" इस श्रुतिसे कामना करनेवालेके ज्ञानकर्तृत्वकी सिद्धि होती है। अतः ब्रह्मका ज्ञानकर्तृत्व निश्चित होनेके कारण 'ब्रह्म ज्ञप्तिमात्र है' ऐसा कहना अनुचित है।

इसके सिवा ऐसा माननेसे अनित्यत्वका प्रसङ्ग भी उपस्थित होता है। यदि 'ज्ञान ज्ञप्तिको कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मकी भावरूपता मानी जाय तो भी उसके अनित्यत्व और पारतन्त्र्यका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, क्योंकि धातुओंके अर्थ कारकोंकी अपेक्षावाले

धात्वर्थोऽतोऽस्यानित्यत्वं परतन्त्रता च ।

तन्निरसनम्

न, स्वरूपाव्यतिरेकेण कार्यत्वोपचारात् । आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिर्न ततो व्यतिरिच्यतेऽतो नित्यैव । तथापि बुद्धेरुपाधिलक्षणायाश्चक्षुरादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणामिन्या ये शब्दाद्याकारावभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एवात्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते । तस्मादात्मविज्ञानावभासाश्च ते विज्ञानशब्दवाच्याश्च धात्वर्थभूता आत्मन एव धर्मा विक्रियारूपा इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते ।

यत्तु यद्ब्रह्मणो विज्ञानं तत् सवितृप्रकाशवदग्न्युष्णवच्च ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तं स्वरूपमेव तत्;

हुआ करते हैं। ज्ञान भी धातुका अर्थ है; अतः इसकी भी अनित्यता और परतन्त्रता सिद्ध होती है।

समाधान—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञान ब्रह्मके स्वरूपसे अभिन्न है, इस कारण उसका कार्यत्व केवल उपचारसे है। आत्माका स्वरूप जो 'ज्ञप्ति' है वह उससे व्यतिरिक्त नहीं है। अतः वह (ज्ञप्ति) नित्या ही है। तथापि चक्षु आदिके द्वारा विषयरूपमें परिणत होनेवाली उपाधिरूप बुद्धिकी जो शब्दादिरूप प्रतीतियाँ हैं वे आत्मविज्ञानकी विषयभूत होकर उत्पन्न होती हुई आत्मविज्ञानसे व्याप्त ही उत्पन्न होती हैं [अर्थात् अपनी उत्पत्तिके समय उन प्रतीतियोंमें तो आत्म-विज्ञानसे प्रकाशित होनेकी योग्यता रहती है और आत्मविज्ञान उन्हें प्रकाशित करता रहता है]। अतः वे धातुओंकी अर्थभूत एवं 'विज्ञान' शब्दवाच्य आत्म-विज्ञानकी प्रतीतियाँ आत्माका ही विकाररूप धर्म हैं—ऐसी अविवेकियों-द्वारा कल्पना की जाती है।

किन्तु उस ब्रह्मका जो विज्ञान है वह सूर्यके प्रकाश तथा अग्निकी उष्णताके समान ब्रह्मके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप

न तत्कारणान्तरसव्यपेक्षम् । नित्यस्वरूपत्वात् । सर्वभावानां च तेनाविभक्तदेशकालत्वात् कालाकाशादिकारणत्वाच्च निरतिशयसूक्ष्मत्वाच्च । न तस्यान्यदविज्ञेयं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वास्ति । तस्मात्सर्वज्ञं तद्ब्रह्म ।

ही है; उसे किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह नित्यस्वरूप है। तथा उस ब्रह्मसे सम्पूर्ण भावपदार्थोंके देश-काल अभिन्न हैं, और वह काल तथा आकाशादिका भी कारण एवं निरतिशय सूक्ष्म है; अतः ऐसी कोई सूक्ष्म, व्यवहित (व्यवधानवाली), विप्रकृष्ट (दूर) तथा भूत, भविष्यत् या वर्तमान वस्तु नहीं है जो उसके द्वारा जानी न जाती हो; इसलिये वह ब्रह्म सर्वज्ञ है।

मन्त्रवर्णाच्च—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" (श्वे० उ० ३ । १९) इति । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३०) इत्यादि श्रुतेश्च । विज्ञातृस्वरूपाव्यतिरेकात्करणादिनिमित्तानपेक्षत्वाच्च ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वेऽपि नित्यत्व-

"वह बिना हाथ-पाँवके ही वेगसे चलने और ग्रहण करनेवाला है, बिना नेत्रके ही देखता है और बिना कानके ही सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद्यमात्रको जानता है, उसे जाननेवाला और कोई नहीं है, उसे सर्वप्रथम परमपुरुष कहा गया है।" इस मन्त्रवर्णसे तथा "अविनाशी होनेके कारण विज्ञाताके ज्ञानका कभी लोप नहीं होता और उससे भिन्न कोई दूसरा भी नहीं है [जो उसे देखे]" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है। अपने विज्ञातृस्वरूपसे अभिन्न तथा इन्द्रियादि साधनोंकी अपेक्षासे रहित होनेके कारण ज्ञानस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मका नित्यत्व

प्रसिद्धिरतो नैव धात्वर्थस्तद्क्रियारूपत्वात् ।

अत एव च न ज्ञानकर्तृ, तस्मादेव च न ज्ञानशब्दवाच्यमपि तद्ब्रह्म । तथापि तदाभासवाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञानशब्देन तल्लक्ष्यते न तूच्यते । शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहितत्वात् । तथा सत्यशब्देनापि । सर्वविशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्यशब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति न तु सत्यशब्दवाच्यमेव ब्रह्म ।

एवं सत्यादिशब्दा इतरेतरसंनिधावन्योन्यनियम्यनियामकाः सन्तः सत्यादिशब्दवाच्यात्तन्निवर्तका ब्रह्मणो लक्षणार्थाश्च भवन्तीत्यतः सिद्धम् "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

भली प्रकार सिद्ध ही है। अतः क्रियारूप न होनेके कारण वह (ज्ञान) धातुका अर्थ भी नहीं है।

इसीलिये वह ज्ञानकर्ता भी नहीं है और इसीसे वह ब्रह्म 'ज्ञान' शब्दका वाच्य भी नहीं है। तो भी ज्ञानाभासके वाचक तथा बुद्धिके धर्मविषयक 'ज्ञान' शब्दसे वह लक्षित होता है—कहा नहीं जाता, क्योंकि वह शब्दकी प्रवृत्तिके हेतुभूत जाति आदि धर्मोंसे रहित है। इसी प्रकार 'सत्य' शब्दसे भी [उसको लक्षित ही किया जा सकता है] ब्रह्मका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषणोंसे शून्य है; अतः वह सामान्यतः सत्ता ही जिसका विषय—अर्थ है ऐसे 'सत्य' शब्दसे 'सत्यं ब्रह्म' इस प्रकार केवल लक्षित होता है—ब्रह्म 'सत्य' शब्दका वाच्य ही नहीं है।

इस प्रकार ये सत्यादि शब्द एक-दूसरेकी सन्निधिसे एक-दूसरेके नियम्य और नियामक होकर सत्यादि शब्दोंके वाच्यार्थसे ब्रह्मको अलग रखनेवाले और उसका लक्षण करनेमें उपयोगी होते हैं। अतः "जहाँसे मनके सहित वाणी उसे

(तै० उ० २ । ४ । १) "अनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २ । ७ । १) इति चावाच्यत्वं नीलोत्पलवदवाक्यार्थत्वं च ब्रह्मणः ।

न पाकर लौट आती है" "न कहने योग्य और अनाश्रितमें" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्मका सत्यादि शब्दोंका अवाच्यत्व और नील-कमलके समान अवाक्यार्थत्व सिद्ध होता है ।*

तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यो वेद विजानाति निहितं स्थितं गुहायाम् ।

गुहाशब्दार्थ-निर्वचनम्

गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः । गूढावस्यां भोगापवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्यां परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये । तद्धि परमं व्योम "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यक्षरसंनिकर्षात् । गुहायां

उपर्युक्त प्रकारसे व्याख्या किये हुए उस ब्रह्मको जो पुरुष गुहामें निहित (छिपा हुआ) जानता है । संवरण अर्थात् आच्छादन अर्थ-वाले 'गुह्' धातुसे 'गुहा' शब्द निष्पन्न होता है; इस (गुहा) में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृ पदार्थ निगूढ (छिपे हुए) हैं इसलिये 'गुहा' बुद्धिका नाम है । अथवा उसमें भोग और अपवर्ग—ये पुरुषार्थ निगूढ अवस्थामें स्थित हैं; अतः गुहा है । उसके भीतर परम—प्रकृष्ट व्योम—आकाशमें अर्थात् अव्याकृताकाशमें, क्योंकि "हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश [ओतप्रोत है]" इस श्रुतिके अनुसार अक्षरकी सन्निधिमें होनेसे यह अव्याकृताकाश

* तात्पर्य यह है कि वाच्य-वाचक-भाव ब्रह्मका बोध करानेमें समर्थ नहीं हो सकता; अतः ब्रह्म इन शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता और सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्तिके अधिष्ठानरूपसे लक्षित होनेके कारण वह नीलकमल आदिके समान गुण-गुणीरूप संसर्गसूचक वाक्योंका भी अर्थ नहीं हो सकता ।

व्योम्नीति वा सामानाधिकरण्याद्व्याकृताकाशमेव गुहा। तत्रापि निगूढाः सर्वे पदार्थास्त्रिषु कालेषु कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वाच्च। तस्मिन्नन्तर्निहितं ब्रह्म।

हार्दमेव तु परमं व्योमेति न्याय्यं विज्ञानाङ्गत्वेनोपासनाङ्गत्वेन व्योम्नो विवक्षितत्वात्। "यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः" (छा० उ० ३। १२। ७) "यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः" (छा० उ० ३। १२। ८) "योऽयमन्तर्हृदय आकाशः" (छा० उ० ३। १२। ९) इति श्रुत्यन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य व्योम्नः परमत्वम्। तस्मिन्हार्दे व्योम्नि या बुद्धिर्गुहा तस्यां निहितं ब्रह्म तद्वृत्त्या विविक्ततयोपलभ्यत इति। न ह्यन्यथा विशिष्टदेशकालसंबन्धोऽस्ति ब्रह्मणः सर्वगतत्वान्निर्विशेषत्वाच्च।

ही परमाकाश है। अथवा 'गुहायां व्योम्नि' इस प्रकार इन दोनों पदोंका सामानाधिकरण्य होनेके कारण आकाशको ही गुहा कहा गया है, क्योंकि सबका कारण और सूक्ष्मतर होनेके कारण उसमें भी तीनों कालोंमें सारे पदार्थ छिपे हुए हैं। उसीके भीतर ब्रह्म भी स्थित है।

परन्तु युक्तियुक्त तो यही है कि हृदयाकाश ही परमाकाश है, क्योंकि उस आकाशको विज्ञानाङ्ग यानी उपासनाके अंगरूपसे बतलाना यहाँ इष्ट है। "जो आकाश इस [शरीरसंज्ञक] पुरुषसे बाहर है" "जो आकाश इस पुरुषके भीतर है" "जो यह आकाश हृदयके भीतर है" इस प्रकार एक अन्य श्रुतिसे हृदयाकाशका परमत्व प्रसिद्ध है। उस हृदयाकाशमें जो बुद्धिरूप गुहा है उसमें ब्रह्म निहित है; अर्थात् उस (बुद्धिवृत्ति) से वह व्यावृत्त (पृथक्) रूपसे स्पष्टतया उपलब्ध होता है; अन्यथा ब्रह्मका किसी भी विशेष देश या कालसे सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह सर्वगत और निर्विशेष है।

स एवं ब्रह्म विजानन्किमि-

ब्रह्मविद् ऐश्वर्यम् त्याह—अश्नुते भुङ्क्ते सर्वान्निरवशिष्टान्कामान्भोगानित्यर्थः । किमस्मदादिवत्पुत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण नेत्याह । सह युगपदेकक्षणोपारूढानेव एकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवत् नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तया यामवोचाम सत्यं ज्ञानमनन्तमिति । एतदुच्यते—ब्रह्मणा सहेति ।

ब्रह्मभूतो विद्वान्ब्रह्मस्वरूपेणैव सर्वान्कामान्सहाश्नुते, न यथोपाधिकृतेन स्वरूपेणात्मना जलसूर्यकादिवत्प्रतिबिम्बभूतेन सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापेक्षांश्चक्षुरादिकरणापेक्षांश्च कामान् पर्यायेणाश्नुते लोकः; कथं तर्हि ? यथोक्तेन प्रकारेण सर्वज्ञेन सर्व-

वह इस प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला क्या करता है ? इसपर श्रुति कहती है—वह सम्पूर्ण अर्थात् निःशेष कामनाओं यानी इच्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन्हें भोगता है । तो क्या वह हमारे-तुम्हारे समान पुत्र एवं स्वर्गादि भोगोंको क्रमसे भोगता है ? इसपर श्रुति कहती है—नहीं, उन्हें एक साथ भोगता है । वह एक ही क्षणमें बुद्धिवृत्तिपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण भोगोंको सूर्यके प्रकाशके समान नित्य तथा ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न एक ही उपलब्धिके द्वारा, जिसका हमने 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ऐसा निरूपण किया है, भोगता है । 'ब्रह्मणा सह सर्वान्कामानश्नुते' इस वाक्यसे यही अर्थ कहा गया है ।

ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मस्वरूपसे ही एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है । अर्थात् दूसरे लोग जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान अपने औपाधिक और संसारी आत्माके द्वारा धर्मादि निमित्तकी अपेक्षावाले तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षासे युक्त सम्पूर्ण भोगोंको क्रमशः भोगते हैं उस प्रकार उन्हें नहीं भोगता । तो फिर कैसे भोगता है ? वह उपर्युक्त

गतेन सर्वात्मना नित्यब्रह्मात्मस्वरूपेण धर्मादिनिमित्तानपेक्षां-श्चक्षुरादिकरणनिरपेक्षांश्च सर्वा-न्कामान्सहैवाश्नुत इत्यर्थः । विपश्चिता मेधाविना सर्वज्ञेन । तद्धि वैपश्चित्यं यत्सर्वज्ञत्वं तेन सर्वज्ञस्वरूपेण ब्रह्मणाश्नुत इति । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ।

प्रकारसे सर्वज्ञ सर्वगत सर्वात्मक एवं नित्यब्रह्मात्मस्वरूपसे, धर्मादि निमित्तकी अपेक्षासे रहित तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी निरपेक्ष सम्पूर्ण भोगोंको एक साथ ही प्राप्त कर लेता है—यह इसका तात्पर्य है । विपश्चित्—मेधावी अर्थात् सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे । ब्रह्मका जो सर्वज्ञत्व है वही उसकी विपश्चित्ता (विद्वत्ता) है। उस सर्वज्ञस्वरूप ब्रह्मरूपसे ही वह उन्हें भोगता है । मूलमें 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है।

सर्व एव वल्ल्यर्थो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितः । स च सूत्रितोऽर्थः संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः । पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्युत्तरस्तद्वृत्तिस्थानीयो ग्रन्थ आरभ्यते तस्माद्वा एतस्मादित्यादिः ।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ब्राह्मण-वाक्यद्वारा इस सम्पूर्ण वल्लीका अर्थ सूत्ररूपसे कह दिया है । उस सूत्रभूत अर्थकी ही मन्त्रद्वारा संक्षेप-से व्याख्या कर दी गयी है । अब फिर उसीका अर्थ विस्तारसे निर्णय करना है—इसीलिये उसका वृत्तिरूप 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति मीमांस्यते

तत्र च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्युक्तं मन्त्रादौ तत्कथं सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यत आह । तत्र त्रिविधं ह्यानन्त्यं देशतः कालतो वस्तुतश्चेति । तद्यथा देशतोऽनन्त आकाशः । न हि देशतस्तस्य

उस मन्त्रमें सबसे पहले 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ऐसा कहा है । वह सत्य, ज्ञान और अनन्त किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—अनन्तता तीन प्रकारकी है—देशसे, कालसे और वस्तुसे । उनमें जैसे आकाश देशतः अनन्त है । उसका देशसे

परिच्छेदोऽस्ति । न तु कालतश्चानन्त्यं वस्तुतश्चाकाशस्य । कस्मात्कार्यत्वात् । नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वमकार्यत्वात् । कार्यं हि वस्तु कालेन परिच्छिद्यते । अकार्यं च ब्रह्म । तस्मात्कालतोऽस्यानन्त्यम् ।

परिच्छेद नहीं है । किन्तु कालसे और वस्तुसे आकाशकी अनन्तता नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि वह कार्य है । किन्तु आकाशके समान किसीका कार्य न होनेके कारण ब्रह्मका इस प्रकार कालसे भी अन्तवत्त्व नहीं है । जो वस्तु किसीका कार्य होती है वही कालसे परिच्छिन्न होती है । और ब्रह्म किसीका कार्य नहीं है, इसलिये उसकी कालसे अनन्तता है ।

तथा वस्तुतः । कथं पुनर्वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात् । भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति, वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद्वस्त्वन्तरान्निवर्तते । यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः । तद्यथा गोत्वबुद्धिरश्वत्वाद्विनिवर्तत इति अश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव भवति । स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टः । नैवं ब्रह्मणो भेदः । अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम् ।

इसी प्रकार वह वस्तुसे भी अनन्त है । वस्तुसे उसकी अनन्तता किस प्रकार है ? क्योंकि वह सबसे अभिन्न है । भिन्न वस्तु ही किसी अन्य भिन्न वस्तुका अन्त हुआ करती है, क्योंकि किसी भिन्न वस्तुमें गयी हुई बुद्धि ही किसी अन्य प्रसक्त वस्तुसे निवृत्त की जाती है । जिस [पदार्थसम्बन्धिनी] बुद्धिको जिस पदार्थसे निवृत्ति होती है वही उस पदार्थका अन्त है । जिस प्रकार गोत्वबुद्धि अश्वत्वबुद्धिसे निवृत्त होती है, अतः गोत्वका अन्त अश्वत्व हुआ, इसलिये वह अन्तवान् ही है और उसका वह अन्त भिन्न पदार्थोंमें ही देखा जाता है । किन्तु ब्रह्मका ऐसा कोई भेद नहीं है । अतः वस्तुसे भी उसकी अनन्तता है ।

ब्रह्मणः सार्वात्म्यं निरूप्यते

कथं पुनः सर्वानन्यत्वं ब्रह्मण इत्युच्यते—सर्ववस्तुकारणत्वात् । सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म । कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमिति चेन्न; अनृतत्वात्कार्यवस्तुनः । न हि कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोऽस्ति यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) एवं सदेव सत्यमिति श्रुत्यन्तरात् ।

किन्तु ब्रह्मकी सबसे अभिन्नता किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तुओंका कारण है—ब्रह्म काल-आकाश आदि सभी वस्तुओंका कारण है । यदि कहो कि अपने कार्यकी अपेक्षासे तो उसका वस्तुसे अन्तवत्त्व हो ही जायगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि कार्यरूप वस्तु तो मिथ्या है—वस्तुतः कारणसे भिन्न कार्य है ही नहीं जिससे कि कारण-बुद्धिकी निवृत्ति हो "वाणीसे आरम्भ होनेवाला विकार केवल नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है" इसी प्रकार "सत् ही सत्य है—ऐसा एक अन्य श्रुतिसे भी सिद्ध होता है ।

तस्मादाकाशादिकारणत्वाद्देशतस्तावदनन्तं ब्रह्म । आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतः, तस्येदं कारणं तस्मात्सिद्धं देशत आत्मन आनन्त्यम् । न ह्यसर्वगतात्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके किंचिद्दृश्यते । अतो निरतिशयमात्मन आनन्त्यं देशतस्तथा-

अतः आकाशादिका कारण होनेसे ब्रह्म देशसे भी अनन्त है । आकाश देशतः अनन्त है—यह तो प्रसिद्ध ही है, और यह उसका कारण है; अतः आत्माका देशतः अनन्तत्व सिद्ध ही है, क्योंकि लोकमें असर्वगत वस्तुसे कोई सर्वगत वस्तु उत्पन्न होती नहीं देखी जाती । इसलिये आत्माका देशतः अनन्तत्व निरतिशय है [अर्थात् उससे बड़ा और कोई नहीं है] । इसी प्रकार

कार्यत्वात्कालतः, तद्भिन्नवस्त्वन्तराभावाच्च वस्तुतः । अत एव निरतिशयसत्यत्वम् ।

सृष्टिक्रमः

तस्मादिति मूलवाक्यसूत्रितं ब्रह्म परामृश्यते । एतस्मादितिमन्त्रवाक्येनानन्तरं यथालक्षितम् । यद्ब्रह्मादौ ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितं यच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यनन्तरमेव लक्षितं तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मन आत्मशब्दवाच्यात् । आत्मा हि तत्सर्वस्य "तत्सत्यं स आत्मा" (छा० उ० ६ । ८–१६) इति श्रुत्यन्तरादतो ब्रह्मात्मा । तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मस्वरूपादाकाशः संभूतः समुत्पन्नः ।

आकाशो नाम शब्दगुणोऽवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम् । तस्मात्

किसीका कार्य न होनेके कारण वह कालतः और उससे भिन्न पदार्थका सर्वथा अभाव होनेके कारण वस्तुतः भी अनन्त है । इसलिये आत्माका सबसे बढ़कर सत्यत्व है । *

[मन्त्रमें] 'तस्मात्' (उससे) इस पदद्वारा मूलवाक्यमेंसे सूत्ररूपसे कहे हुए 'ब्रह्म' पदका परामर्श किया जाता है । तथा इसके अनन्तर 'एतस्मात्' इत्यादि मन्त्रवाक्यसे भी पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका ही उल्लेख किया गया है । [तात्पर्य यह है–] जिस ब्रह्मका पहले ब्राह्मणवाक्यद्वारा सूत्ररूपसे उल्लेख किया गया है और जो उसके पश्चात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार लक्षित किया गया है उस इस ब्रह्म—आत्मासे, अर्थात् 'आत्मा' शब्दवाच्य ब्रह्मसे—क्योंकि "तत् सत्यं स आत्मा" इत्यादि एक अन्य श्रुतिके अनुसार वह सबका आत्मा है; अतः यहाँ ब्रह्म ही आत्मा है—उस इस आत्मस्वरूप ब्रह्मसे आकाश संभूत—उत्पन्न हुआ ।

जो शब्द गुणवाला और समस्त मूर्त्त पदार्थोंको अवकाश देनेवाला है उसे 'आकाश' कहते हैं । उस

* क्योंकि जो वस्तु अनन्त होती है वही सत्य होती है, परिच्छिन्न पदार्थ कभी सत्य नहीं हो सकता ।

आकाशात्स्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेण च कारणगुणेन शब्देन द्विगुणो वायुः संभूत इत्यनुवर्तते । वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाभ्यां च त्रिगुणोऽग्निः संभूतः । अग्नेः स्वेन रसगुणेन पूर्वैश्च त्रिभिश्चतुर्गुणा आपः संभूताः । अद्भ्यः स्वेन गन्धगुणेन पूर्वैश्चतुर्भिः पञ्चगुणा पृथिवी संभूता । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतोरूपेण परिणतात् पुरुषः शिरःपाण्याद्याकृतिमान् ।

आकाशसे अपने गुण 'स्पर्श' और अपने पूर्ववर्ती आकाशके गुण 'शब्द' से युक्त दो गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ । यहाँ प्रथम वाक्यके 'सम्भूतः' (उत्पन्न हुआ) इस क्रिया पदकी [सर्वत्र] अनुवृत्ति की जाती है । वायुसे अपने गुण 'रूप' और पहले दो गुणोंके सहित तीन गुणवाला अग्नि उत्पन्न हुआ । तथा अग्निसे अपने गुण 'रस' और पहले तीन गुणोंके सहित चार गुणवाला जल हुआ । और जलसे अपने गुण 'गन्ध' और पहले चार गुणोंके सहित पाँच गुणवाली पृथिवी उत्पन्न हुई । पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न और वीर्यरूपमें परिणत हुए अन्नसे शिर तथा हाथ-पाँवरूप आकृतिवाला पुरुष उत्पन्न हुआ ।

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारः । पुरुषाकृतिभावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतं रेतो बीजम्; तस्माद्यो जायते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव स्यात् । सर्वजातिषु जायमानानां

वह यह पुरुष अन्नरसमय अर्थात् अन्न और रसका विकार है । पुरुषाकारसे भावित [अर्थात् पुरुषके आकारकी वासनासे युक्त] तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेजोरूप जो शुक्र है वह उसका बीज है । उससे जो उत्पन्न होता है वह भी उसीके समान पुरुषाकार ही होता है, क्योंकि सभी जातियोंमें उत्पन्न होनेवाले देहोंमें पिताके

जनकाकृतिनियमदर्शनात् ।

सर्वेषामप्यन्नरसविकारत्वे ब्रह्मवंश्यत्वे चाविशिष्टे कस्मात्पुरुष एव गृह्यते ?

प्राधान्यात् ।

किं पुनः प्राधान्यम् ।

कर्मज्ञानाधिकारः । पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वाच्च कर्मज्ञानयोरधिक्रियते—

कथं पुरुषस्य प्राधान्यम्

"पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीक्षतीत्येवं संपन्नः । अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिविज्ञानम् ।" इत्यादिश्रुत्यन्तरदर्शनात् ।

तै० उ० १६—

समान आकृति होनेका नियम देखा जाता है ।

शंका—सृष्टिमें सभी शरीर समानरूपसे अन्न और रसके विकार तथा ब्रह्माके वंशमें उत्पन्न हुए हैं; फिर यहाँ पुरुषको ही क्यों ग्रहण किया गया है ?

समाधान—प्रधानताके कारण ।

शंका—उसकी प्रधानता क्या है ?

समाधान—कर्म और ज्ञानका अधिकार ही उसकी प्रधानता है । [कर्म और ज्ञानके साधनमें] समर्थ, [उनके फलकी] इच्छावाला और उससे उदासीन न होनेके कारण पुरुष ही कर्म और ज्ञानका अधिकारी है । "पुरुषमें ही आत्माका पूर्णतया आविर्भाव हुआ है; वही प्रकृष्ट ज्ञानसे सबसे अधिक सम्पन्न है । वह जानी-बूझी बात कहता है, जाने-बूझे पदार्थोंको देखता है, वह कल होनेवाली बात भी जान सकता है, उसे उत्तम और अधम लोकोंका ज्ञान है तथा वह कर्म-ज्ञानरूप नश्वर साधनके द्वारा अमर पदकी इच्छा करता है—इस प्रकार वह विवेकसम्पन्न है । उसके सिवा अन्य पशुओंको तो केवल भूख-प्यासका ही विशेष ज्ञान होता है" ऐसी एक दूसरी श्रुति देखनेसे भी [पुरुषकी प्रधानता सिद्ध होती है] ।

स हि पुरुष इह विद्ययान्तरतमं ब्रह्म संक्रामयितुमिष्टः । तस्य च बाह्याकारविशेषेष्वनात्मस्वात्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विशेषं कंचित्सहसान्तरतमप्रत्यगात्मविषया निरालम्बना च कर्तुमशक्येति दृष्टशरीरात्मसामान्यकल्पनया शाखाचन्द्रनिदर्शनवदन्तः प्रवेशयन्नाह—

उस पुरुषको ही यहाँ (इस वल्लीमें) विद्याके द्वारा सबकी अपेक्षा अन्तरतम ब्रह्मके पास ले जाना अभीष्ट है । किन्तु उसकी बुद्धि, जो बाह्याकार विशेषरूप अनात्म पदार्थोंमें आत्मभावना किये हुए है, किसी विशेष आलम्बनके बिना एकाएक सबसे अन्तरतम प्रत्यगात्मसम्बन्धिनी तथा निरालम्बना की जानी असम्भव है; अतः इस दिखलायी देनेवाले शरीररूप आत्माकी समानताकी कल्पनासे शाखाचन्द्र दृष्टान्तके समान उसका भीतरकी ओर प्रवेश कराकर श्रुति कहती है—

तस्येदमेव शिरः । तस्यास्य

उसका यह [शिर] ही शिर है ।

पक्ष्यात्मनान्नमयस्य निरूपणम्

पुरुषस्यान्नरसमयस्येदमेव शिरः प्रसिद्धम् । प्राणमयादिष्वशिरसां शिरस्त्वदर्शनादिहापि तत्प्रसङ्गो मा भूदितीदमेव शिर इत्युच्यते । एवं पक्षादिषु योजना । अयं

उस इस अन्नरसमय पुरुषका यह प्रसिद्ध शिर ही [शिर है] । [अगले अनुवाकमें] प्राणमय आदि शिररहित कोशोंमें भी शिरस्त्व देखा जानेके कारण यहाँ भी वही बात न समझी जाय [अर्थात् इस अन्नमय कोशको भी वस्तुतः शिररहित न समझा जाय] इसलिये 'यह प्रसिद्ध शिर ही उसका शिर है'—ऐसा कहा जाता है । इसी प्रकार पक्षादिके विषयमें लगा लेना चाहिये । पूर्वाभि-

दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य दक्षिणः पक्षः । अयं सव्यो बाहुरुत्तरः पक्षः । अयं मध्यमो देहभाग आत्माङ्गानाम् । "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः । इदमिति नाभेरधस्ताद्यदङ्गं तत्पुच्छं प्रतिष्ठा । प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छम् अधोलम्बनसामान्याद्यथा गोः पुच्छम् ।

एतत्प्रकृत्योत्तरेषां प्राणमयादीनां रूपकत्वसिद्धिः; मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमावत् । तदप्येष श्लोको भवति । तत्तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणोक्तेऽन्नमयात्मप्रकाशक एष श्लोको मन्त्रो भवति ॥ १ ॥

मुख व्यक्तिका यह दक्षिण [दक्षिण दिशाकी ओरका] बाहु दक्षिण पक्ष है, यह वाम बाहु उत्तर पक्ष है तथा यह देहका मध्यभाग अङ्गोंका आत्मा है; जैसा कि "मध्यभाग ही इन अङ्गोंका आत्मा है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है। और यह जो नाभिसे नीचेका अङ्ग है वही पुच्छ—प्रतिष्ठा है। इसके द्वारा वह स्थित होता है, इसलिये यह उसकी प्रतिष्ठा है। नीचेकी ओर लटकनेमें समानता होनेके कारण वह पुच्छके समान पुच्छ है; जैसे कि गौकी पूँछ ।

इस अन्नमय कोशसे आरम्भ करके ही साँचेमें डाले हुए पिघले ताँबेकी प्रतिमाके समान आगेके प्राणमय आदि कोशोंके रूपकत्वकी सिद्धि होती है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है; अर्थात् अन्नमय आत्माको प्रकाशित करनेवाले उस ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही यह श्लोक अर्थात् मन्त्र है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नकी महिमा तथा प्राणमय कोशका वर्णन

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद्भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

अन्नसे ही प्रजा उत्पन्न होती है । जो कुछ प्रजा पृथिवीको आश्रित करके स्थित है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है; फिर वह अन्नसे ही जीवित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है, क्योंकि अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ (अग्रज—पहले उत्पन्न होनेवाला) है । इसीसे वह सर्वौषध कहा जाता है । जो लोग 'अन्न ही ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं । अन्न ही प्राणियोंमें बड़ा है; इसलिये वह सर्वौषध कहलाता है । अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं । अन्न

प्राणियोंद्वारा खाया जाता है और वह भी उन्हींको खाता है। इसीसे वह 'अन्न' कहा जाता है। उस इस अन्नरसमय पिण्डसे, उसके भीतर रहनेवाला दूसरा शरीर प्राणमय है। उसके द्वारा यह (अन्नमय कोश) परिपूर्ण है। वह यह (प्राणमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस (अन्नमय कोश) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। उसका प्राण ही शिर है। व्यान दक्षिण पक्ष है। अपान उत्तर पक्ष है। आकाश आत्मा (मध्यभाग) है और पृथिवी पुच्छ—प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

अन्नाद्रसादिभावपरिणतात्, अन्नमयोपासन- फलम् वा इति स्मरणार्थः, प्रजाः स्थावरजङ्गमाः प्रजायन्ते। याः काश्चाविशिष्टाः पृथिवीं श्रिताः पृथिवीमाश्रितास्ताः सर्वा अन्नादेव प्रजायन्ते। अथो अपि जाता अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्त इत्यर्थः। अथाप्येनदन्नमपियन्त्यपिगच्छन्ति। अपिशब्दः प्रतिशब्दार्थे। अन्नं प्रति प्रलीयन्त इत्यर्थः। अन्ततोऽन्ते जीवनलक्षणाया वृत्तेः परिसमाप्तौ।

रसादिरूपमें परिणत हुए अन्नसे ही स्थावर-जङ्गमरूप प्रजा उत्पन्न होती है। 'वै' यह निपात स्मरणके अर्थमें है। जो कुछ प्रजा अविशेष भावसे पृथिवीको आश्रित किये हुए है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है। और फिर उत्पन्न होनेपर वह अन्नसे ही जीवित रहती—प्राण धारण करती अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होती है। और अन्तमें—जीवनरूप वृत्तिकी समाप्ति होनेपर वह अन्नमें ही लीन हो जाती है। ['अपियन्ति' इसमें] 'अपि' शब्द 'प्रति' के अर्थमें है। अर्थात् वह अन्नके प्रति ही लीन हो जाती है।

कस्मात्? अन्नं हि यस्माद् भूतानां प्राणिनां ज्येष्ठं प्रथमजम्। अन्नमयादीनां हीतरेषां भूतानां

इसका कारण क्या है? क्योंकि अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ यानी अग्रज है। अन्नमय आदि जो इतर प्राणी हैं उनका कारण अन्न ही है।

कारणमन्नमतोऽन्नप्रभवा अन्नजीवना अन्नप्रलयाश्च सर्वाः प्रजाः । यस्माच्चैवं तस्मात्सर्वौषधं सर्वप्राणिनां देहदाहप्रशमनमन्नमुच्यते ।

इसलिये सम्पूर्ण प्रजा अन्नसे उत्पन्न होनेवाली, अन्नके द्वारा जीवित रहनेवाली और अन्नमें ही लीन हो जानेवाली है । क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये अन्न सर्वौषध—सम्पूर्ण प्राणियोंके देहके सन्तापको शान्त करनेवाला कहा जाता है ।

अन्नब्रह्मविदः फलमुच्यते—सर्वं वै ते समस्तमन्नजातमाप्नुवन्ति । के ? येऽन्नं ब्रह्म यथोक्तमुपासते । कथम् ? अन्नजोऽन्नात्मान्नप्रलयोऽहं तस्मादन्नं ब्रह्मेति ।

अन्नरूप ब्रह्मकी उपासना करनेवालेका [प्राप्तव्य] फल बतलाया जाता है—वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्नसमूहको प्राप्त कर लेते हैं । कौन ? जो उपर्युक्त अन्नकी ही ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं । किस प्रकार [उपासना करते हैं] ? इस तरह कि मैं अन्नसे उत्पन्न अन्नस्वरूप और अन्नमें ही लीन हो जानेवाला हूँ; इसलिये अन्न ब्रह्म है ।

कुतः पुनः सर्वान्नप्राप्तिफलमन्नात्मोपासनमित्युच्यते । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । भूतेभ्यः पूर्वं निष्पन्नत्वाज्ज्येष्ठं हि यस्मात्तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । तस्मादुपपन्ना सर्वान्नात्मोपासकस्य सर्वान्नप्राप्तिः । अन्नाद्भूतानि जायन्ते ।

'अन्न ही आत्मा है' इस प्रकारकी उपासना किस प्रकार सम्पूर्ण अन्नकी प्राप्तिरूप फलवाली है, सो बतलाते हैं—अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ है—प्राणियोंसे पहले उत्पन्न होनेके कारण, क्योंकि वह उनसे ज्येष्ठ है इसलिये वह सर्वौषध कहा जाता है । अतः सम्पूर्ण अन्नकी आत्मारूपसे उपासना करनेवालेके लिये सम्पूर्ण अन्नकी प्राप्ति उचित ही है । अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न

जातान्यन्नेन वर्धन्त इत्युपसंहारार्थं पुनर्वचनम् ।

इदानीमन्ननिर्वचनमुच्यते—

अन्नशब्द-निर्वचनम् अद्यते भुज्यते चैव यद्भूतैरन्नमत्ति च भूतानि स्वयं तस्माद्भूतैर्भुज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं तदुच्यते । इतिशब्दः प्रथमकोशपरिसमाप्त्यर्थः ।

अन्नमयादिभ्य आनन्दमयान्तेभ्य आत्मभ्योऽभ्यन्तरतमं ब्रह्म विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषुः शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशापनयनेनानेकतुषकोद्रववितुषीकरणेनेव तदन्तर्गततण्डुलान् प्रस्तौति तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादित्यादि ।

अन्नमयकोश-निरासः

तस्मादेतस्माद्यथोक्तादन्नरसमयात्पिण्डादन्यो व्यतिरिक्तोऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा पिण्डवदेव मिथ्या

प्राणमयकोश-निर्वचनम्

होनेपर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं—यह पुनरुक्ति उपासनाके उपसंहारके लिये है ।

अब 'अन्न' शब्दकी व्युत्पत्ति कही जाती है—जो प्राणियोंद्वारा 'अद्यते'—खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियोंको 'अत्ति' खाता है, इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंका भोज्य और उनका भोक्ता होनेके कारण भी वह 'अन्न' कहा जाता है । इस वाक्यमें 'इति' शब्द प्रथम कोशके विवरणकी परिसमाप्तिके लिये है ।

अनेक तुषाओंवाले धानोंको तुषरहित करके जिस प्रकार चावल निकाल लिये जाते हैं उसी प्रकार अन्नमयसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त सम्पूर्ण शरीरोंकी अपेक्षा आन्तरतम ब्रह्मको विद्याके द्वारा अपने प्रत्यगात्मरूपसे दिखलानेकी इच्छावाला शास्त्र अविद्याकल्पित पाँच कोशोंका बाध करता हुआ 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्' इत्यादि वाक्यसे आरम्भ करता है—

उस इस पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्डसे अन्य यानी पृथक् और उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो अन्नरसमय पिण्डके समान मिथ्या ही आत्मारूपसे कल्पना किया हुआ

परिकल्पित आत्मत्वेन प्राणमयः प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्रायः । तेन प्राणमयेनान्नरसमय आत्मैष पूर्णो वायुनेव दृतिः । स वा एषः प्राणमय आत्मा पुरुषविध एव पुरुषाकार एव, शिरःपक्षादिभिः ।

है, प्राणमय है । प्राण—वायु उससे युक्त अर्थात् तत्प्राय [यानी उसमें प्राणकी ही प्रधानता है] । जिस प्रकार वायुसे धोंकनी भरी रहती है उसी प्रकार उस प्राणमयसे यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है । वह यह प्राणमय आत्मा पुरुषविध अर्थात् शिर और पक्षादिके कारण पुरुषाकार ही है ।

किं स्वत एव, नेत्याह ।

क्या वह स्वतः ही पुरुषाकार है ? इसपर कहते हैं—'नहीं,

प्राणमयस्य पुरुषविधत्वम्

प्रसिद्धं तावदन्नरसमयस्यात्मनः पुरुषविधत्वम् । तस्यान्नरसमयस्य पुरुषविधतां पुरुषाकारतामनु अयं प्राणमयः पुरुषविधो मूषानिषिक्तप्रतिमावन्न स्वत एव । एवं पूर्वस्य पूर्वस्य पुरुषविधतामनूत्तरोत्तरः पुरुषविधो भवति पूर्वः पूर्वश्चोत्तरोत्तरेण पूर्णः ।

अन्नरसमय शरीरकी पुरुषाकारता तो प्रसिद्ध ही है; उस अन्नरसमयकी पुरुषविधता—पुरुषाकारताके अनुसार साँचेमें ढली हुई प्रतिमाके समान यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है—स्वतः ही पुरुषाकार नहीं है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी पुरुषाकारता है और उसके अनुसार पीछे-पीछेका कोश भी पुरुषाकार है; तथा पूर्व-पूर्व कोश पीछे-पीछेके कोशसे पूर्ण (भरा हुआ) है ।

कथं पुनः पुरुषविधतास्य इत्युच्यते । तस्य प्राणमयस्य प्राण एव शिरः । प्राणमयस्य वायुविकारस्य प्राणो मुखनासिकानिःसरणो वृत्तिविशेषः शिर एव

इसकी पुरुषाकारता किस प्रकार है ? सो बतलायी जाती है—उस प्राणमयका प्राण ही शिर है । वायुके विकाररूप प्राणमय कोशका मुख और नासिकासे निकलनेवाला प्राण, जो मुख्य प्राणकी वृत्तिविशेष है, श्रुतिके वचनानुसार शिररूपसे ही

परिकल्प्यते वचनात् । सर्वत्र वचनादेव पक्षादिकल्पना । व्यानो व्यानवृत्तिर्दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । य आकाशस्थो वृत्तिविशेषः समानाख्यः स आत्मेवात्मा; प्राणवृत्त्यधिकारात् । मध्यस्थत्वादितराः पर्यन्ता वृत्तीरपेक्ष्यात्मा । "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतिप्रसिद्धं मध्यमस्थस्यात्मत्वम् ।

पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । पृथिवीति पृथिवीदेवताध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात् । "सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य" (बृ० उ० ३ । ८) इति हि श्रुत्यन्तरम् । अन्यथोदानवृत्त्योर्ध्वगमनं गुरुत्वाच्च पतनं वा स्याच्छरीरस्य । तस्मात्पृथिवी देवता पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमयस्यात्मनः । तत्तस्मिन्नेवार्थे प्राणमयात्मविषय एष श्लोको भवति ॥१॥

कल्पना किया जाता है । इसके सिवा आगे भी श्रुतिके वचनानुसार ही पक्ष आदिकी कल्पना की गयी है । व्यान अर्थात् व्यान नामकी वृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश आत्मा है । यहाँ प्राण-वृत्तिका अधिकार होनेके कारण ['आकाश' शब्दसे] आकाशमें स्थित जो समानसंज्ञक प्राणकी वृत्ति है वही आत्मा है । अपने आसपासकी अन्य सब वृत्तियोंकी अपेक्षा मध्यवर्तिनी होनेके कारण वह आत्मा है । "इन अंगोंका मध्य आत्मा है" इस श्रुतिसे मध्यवर्ती अंगका आत्मत्व प्रसिद्ध ही है ।

पृथिवी पुच्छ-प्रतिष्ठा है । 'पृथिवी' इस शब्दसे पृथिवीकी अधिष्ठात्री देवी समझनी चाहिये, क्योंकि स्थितिकी हेतुभूत होनेसे वही आध्यात्मिक प्राणको भी धारण करनेवाली है । इस विषयमें "वह पृथिवी-देवता पुरुषके अपानको आश्रय करके" इत्यादि एक दूसरी श्रुति भी है । अन्यथा प्राणकी उदानवृत्तिसे या तो शरीर ऊपरको उड़ जाता अथवा गुरुतावश गिर पड़ता । अतः पृथिवी-देवता ही प्राणमय शरीरकी पुच्छ-प्रतिष्ठा है । उसी अर्थमें अर्थात् प्राणमय आत्माके विषयमें ही यह श्लोक प्रसिद्ध है ॥१॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणकी महिमा और मनोमय कोशका वर्णन

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

देवगण प्राणके अनुगामी होकर प्राणन-क्रिया करते हैं तथा जो मनुष्य और पशु आदि हैं [वे भी प्राणन-क्रियासे ही चेष्टावान् होते हैं]। प्राण ही प्राणियोंकी आयु (जीवन) है। इसीलिये वह 'सर्वायुष' कहलाता है। जो प्राणको ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं वे पूर्ण आयुको प्राप्त होते हैं। प्राण ही प्राणियोंकी आयु है। इसलिये वह 'सर्वायुष' कहलाता है। उस पूर्वोक्त (अन्नमय कोश) का यही देहस्थित आत्मा है। उस इस प्राणमय कोशसे दूसरा इसके भीतर रहनेवाला आत्मा मनोमय है। उसके द्वारा यह पूर्ण है। वह यह [मनोमय कोश] भी पुरुषाकार ही है। उस (प्राणमय कोश) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। यजुः ही उसका शिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है,

साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस पुच्छ—प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥१॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति।

प्राणस्य प्राधान्यम् देवा अग्न्यादयः प्राणं वाय्वात्मानं प्राणनशक्तिमन्तमनु तदात्मभूताः सन्तः प्राणन्ति प्राणनकर्म कुर्वन्ति प्राणनक्रियया क्रियावन्तो भवन्ति। अध्यात्माधिकाराद्देवा इन्द्रियाणि प्राणमनु प्राणन्ति मुख्यप्राणमनु चेष्टन्त इति वा। तथा मनुष्याः पशवश्च ये ते प्राणनकर्मणैव चेष्टावन्तो भवन्ति।

अतश्च नान्नमयेनैव परिच्छिन्नेनात्मनात्मवन्तः प्राणिनः। किं तर्हि ? तदन्तर्गतेन प्राणमयेनापि साधारणेनैव सर्वपिण्डव्यापिनात्मवन्तो मनुष्यादयः। एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्यापिभिरुत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैरानन्दमयान्तैराकाशादिभूतारब्धैरविद्याकृतैरात्मवन्तः सर्वे प्राणिनः। तथा स्वाभाविकेनाप्याकाशादि-

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति—अग्नि आदि देवगण प्राणनशक्तिमान् वायुरूप प्राणके अनुगामी होकर अर्थात् तद्रूप होकर प्राणन-क्रिया करते हैं; यानी प्राणन-क्रियासे क्रियावान् होते हैं। अथवा यहाँ अध्यात्म-सम्बन्धी प्रकरण होनेसे [यह समझना चाहिये कि] देव अर्थात् इन्द्रियाँ प्राणके पीछे प्राणन करतीं यानी मुख्य प्राणकी अनुगामिनी होकर चेष्टा करती हैं। तथा जो भी मनुष्य और पशु आदि हैं वे ही प्राणन-क्रियासे ही चेष्टावान् होते हैं।

इससे जाना जाता है कि प्राणी केवल परिच्छिन्नरूप अन्नमय कोशसे ही आत्मवान् नहीं हैं। तो क्या है ? वे मनुष्यादि जीव उसके अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण पिण्डमें व्याप्त साधारण प्राणमय कोशसे भी आत्मवान् हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कोशमें व्यापक मनोमयसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त, आकाशादि भूतोंसे होनेवाले अविद्याकृत कोशोंसे सम्पूर्ण प्राणी आत्मवान् हैं। इसी प्रकार वे स्वभावसे ही

कारणेन नित्येनाविकृतेन सर्वगतेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणेन पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मनात्मवन्तः । स हि परमार्थत आत्मा सर्वेषामित्येतदप्यर्थादुक्तं भवति ।

आकाशादिके कारण, नित्य, निर्विकार, सर्वगत, सत्य ज्ञान एवं अनन्तरूप, पञ्चकोशातीत सर्वात्मासे भी आत्मवान् हैं । वही परमार्थतः सबका आत्मा है—यह बात भी इस वाक्यके तात्पर्यसे कह ही दी गयी है ।

प्राणं देवा अनु प्राणन्तीत्युक्तं तत्कस्मादित्याह । प्राणो हि यस्माद्भूतानां प्राणिनामायुर्जीवनम् । "यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" (कौ० उ० ३ । २) इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्सर्वायुषम् । सर्वेषामायुः सर्वायुः सर्वायुरेव सर्वायुषमित्युच्यते । प्राणापगमे मरणप्रसिद्धेः । प्रसिद्धं हि लोके सर्वायुष्ट्वं प्राणस्य ।

देवगण प्राणके पीछे प्राणन-क्रिया करते हैं—ऐसा पहले कहा गया । ऐसा क्यों है ? सो बतलाते हैं—क्योंकि प्राण ही प्राणियोंका आयु—जीवन है । "जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है" इस एक अन्य श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । इसीलिये वह 'सर्वायुष' है । सबकी आयुका नाम 'सर्वायु' है, 'सर्वायु' ही 'सर्वायुष' कहा जाता है, क्योंकि प्राण-प्रयाणके अनन्तर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध ही है । प्राणका सर्वायु होना तो लोकमें प्रसिद्ध ही है ।

प्राणोपासन-फलम्

अतोऽस्माद्बाह्यादसाधारणादन्नमयादात्मनोऽपक्रम्यान्तः साधारणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्मोपासते येऽहमस्मि प्राणः सर्वभूताना-

अतः जो लोग इस बाह्य असाधारण (व्यावृत्तरूप) अन्नमय कोशसे आत्मबुद्धिको हटाकर इसके अन्तर्वर्ती और साधारण [सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें अनुगत] प्राणमय कोशको 'मैं प्राण सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा

मात्मायुर्जीवनहेतुत्वादिति ते सर्वमेवायुरस्मिँल्लोके यन्ति; नापमृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुष इत्यर्थः । शतं वर्षाणीति तु युक्तं "सर्वमायुरेति" (छा० उ० २ । ११-२०, ४ । ११-१३) इति श्रुतिप्रसिद्धेः ।

और उनके जीवनका कारण होनेसे उनकी आयु हूँ' इस प्रकार ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं वे इस लोकमें पूर्ण आयुको प्राप्त होते हैं । अर्थात् प्रारब्धवश प्राप्त हुई आयुसे पूर्व अपमृत्युसे नहीं मरते । "पूर्ण आयुको प्राप्त होता है" ऐसी श्रुति-प्रसिद्धि होनेके कारण यहाँ ['सर्वायु' शब्दसे] सौ वर्ष समझने चाहिये ।

किं कारणं प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। यो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्ते स तद्गुणभाग्भवतीति विद्याफलप्राप्तेर्हेत्वर्थं पुनर्वचनं प्राणो हीत्यादि । तस्य पूर्वस्यान्नमयस्यैष एव शरीरेऽन्नमये भवः शारीर आत्मा । कः ? य एष प्राणमयः ।

[प्राणको सर्वायु समझनेका] क्या कारण है ? क्योंकि प्राण ही प्राणियोंकी आयु है इसलिये वह 'सर्वायुष' कहा जाता है । जो व्यक्ति जैसे गुणवाले ब्रह्मकी उपासना करता है वह उसी प्रकारके गुणका भागी होता है—इस प्रकार विद्याके फलकी प्राप्तिके इस हेतुको प्रदर्शित करनेके लिये 'प्राणो हि भूतानामायुः' इत्यादि वाक्यकी पुनरुक्ति की गयी है । यही उस पूर्वकथित अन्नमय कोशका शारीर—अन्नमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा है । कौन ? जो कि यह प्राणमय है ।

मनोमयकोश-निर्वचनम्

तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थमन्यत् । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयो

'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि शेष पदोंका अर्थ पहले कह चुके हैं । दूसरा अन्तर-आत्मा मनोमय है । संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणका नाम मन है; जो तद्रूप हो उसे मनोमय कहते हैं; जैसे [अन्नरूप

यथान्नमयः। सोऽयं प्राणमयस्याभ्यन्तर आत्मा। तस्य यजुरेव शिरः। यजुरित्यनियताक्षरपादावसानो मन्त्रविशेषस्तज्जातीयवचनो यजुःशब्दस्तस्य शिरस्त्वं प्राधान्यात्। प्राधान्यं च यागादौ संनिपत्योपकारकत्वात्। यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाकारादिना।

वाचनिकी वा शिरआदिकल्पना सर्वत्र। मनसो हि स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरणद्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुः

होनेके कारण] अन्नमय कहा गया है। वह इस प्राणमयका अन्तर्वर्ती आत्मा है। उसका यजुः ही शिर है। जिनमें अक्षरोंका कोई नियम नहीं है ऐसे पादोंमें समाप्त होनेवाले मन्त्रविशेषका नाम यजुः है। उस जातिके मन्त्रोंका वाचक 'यजुः' शब्द है। उसे प्रधानताके कारण शिर कहा गया है। यागादिमें संनिपत्य उपकारक* होनेके कारण यजुः-मन्त्रोंकी प्रधानता है, क्योंकि स्वाहा आदिके द्वारा यजुर्मन्त्रोंसे ही हवि दी जाती है।

अथवा इन सब प्रसंगोंमें शिर आदिकी कल्पना श्रुतिवाक्यसे ही समझनी चाहिये। अक्षरोंके [उच्चारणके]स्थान, [आन्तरिक]प्रयत्न, [उससे उत्पन्न हुआ]नाद, [उदात्तादि] स्वर, [अकारादि]वर्ण, [उनसे रचे हुए] पद और [पदोंके समूहरूप] वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा उन्हींके संकल्प और भावसे युक्त जो श्रवणादि इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाली 'यजुः' संकेतविशिष्ट मनकी वृत्ति है

* यज्ञांग दो प्रकारके होते हैं—एक संनिपत्य उपकारक और दूसरे आरात् उपकारक। उनमें जो अङ्ग साक्षात् अथवा परम्परासे प्रधान यागके कलेवरकी पूर्तिकर उसके द्वारा अपूर्वकी उत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं वे संनिपत्य उपकारक कहलाते हैं। यजुर्मन्त्र भी यागशरीरको निष्पन्न करनेवाले होनेसे संनिपत्य उपकारक हैं।

इत्युच्यते। एवमृगेवं साम च।

एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणां वृत्तिरेवावर्त्यत इति मानसो जप उपपद्यते। अन्यथाविषयत्वान्मन्त्रो नावर्तयितुं शक्यो घटादिवदिति मानसो जपो नोपपद्यते। मन्त्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशः कर्मसु।

वही 'यजुः' कही जाती है। इसी प्रकार 'ऋक्' और ऐसे ही 'साम' को भी समझना चाहिये।*

इस प्रकार मन्त्रोंके मनोवृत्तिरूप होनेपर ही उस वृत्तिका आवर्तन करनेसे उनका मानसिक जप किया जाना ठीक हो सकता है। अन्यथा घटादिके समान मनके विषय न होनेके कारण तो मन्त्रोंकी आवृत्ति भी नहीं की जा सकती थी और उस अवस्थामें मानसिक जप होना सम्भव ही नहीं था। किन्तु मन्त्रोंकी आवृत्तिका तो बहुत-से कर्मोंमें विधान किया ही गया है [इससे उसकी असम्भावना तो सिद्ध हो नहीं सकती]।

* 'यजुः' आदि शब्दोंसे यजुर्वेद आदि ही समझे जाते हैं। परन्तु यहाँ जो उन्हें मनोमय कोशके शिर आदि रूपसे बतलाया गया है उसमें यह शंका होती है कि उनका उससे ऐसा क्या सम्बन्ध है जो वे उसके अङ्गरूपसे बतलाये गये हैं ? इस वाक्यमें भगवान् भाष्यकारने उसी बातको स्पष्ट किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यजुः, साम अथवा ऋक् आदि मन्त्रोंके उच्चारणमें सबसे पहले अन्यान्य शब्दोंके उच्चारणके समान मनका ही व्यापार होता है। पहले कण्ठ अथवा तालु आदि स्थानोंसे जठराग्निद्वारा प्रेरित वायुका आघात होता है, उससे अस्फुट नादकी उत्पत्ति होती है; फिर क्रमशः स्वर और अकारादि वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। वर्णोंके संयोगसे पद और पदसमूहसे वाक्यकी रचना होती है। इस प्रकार मानसिक सङ्कल्प और भावसे ही यजुः आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं। अतः मनोवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले होनेके कारण ही यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्तिको 'यजुः', ऋग्विषयक वृत्तिको 'ऋक्' और सामविषयक वृत्तिको 'साम' कहा गया है; तथा इस प्रकारकी यजुःवृत्ति ही मनोमय कोशकी शीर्षस्थानीय है।

अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तिः स्यादिति चेत्।

न; मुख्यार्थासंभवात्। "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति ऋगावृत्तिः श्रूयते। तत्रर्चोऽविषयत्वे तद्विषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तौ च क्रियमाणायाम् "त्रिः प्रथमामन्वाह" इति ऋगावृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चोदितः परित्यक्तः स्यात्। तस्मान्मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्रा इति। एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्वेदानाम्। अन्यथा विषयत्वे रूपादिवदनित्यत्वं च स्यान्नैतद्युक्तम्। "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति

शंका—मन्त्रके अक्षरोंको विषय करनेवाली स्मृतिकी आवृत्ति होनेसे मन्त्रकी भी आवृत्ति हो सकती है--यदि ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं; क्योंकि [ऐसा माननेसे जपका विधान करनेवाली श्रुतिका] मुख्य अर्थ असम्भव हो जायगा। "तीन बार प्रथम ऋक्की आवृत्ति करनी चाहिये और तीन बार अन्तिम ऋक्का अन्वाख्यान (आवर्तन) करे" इस प्रकार ऋक्की आवृत्तिके विषयमें श्रुतिकी आज्ञा है। ऐसी अवस्थामें मन्त्रमय ऋक् तो मनका विषय नहीं है, अतः मन्त्रकी आवृत्तिके स्थानमें यदि केवल उसकी स्मृतिका ही आवर्तन किया जाय तो "तीन बार प्रथम ऋक्की आवृत्ति करनी चाहिये" इस श्रुतिका मुख्य अर्थ छूट जाता है। अतः यह समझना चाहिये कि मनोवृत्तिरूप उपाधिसे परिच्छिन्न मनोवृत्तिस्थित जो अनादि-अनन्त आत्मचैतन्य 'यजुः' शब्दवाच्य आत्मविज्ञान है वह यजुर्मन्त्र हैं। इसी प्रकार वेदोंकी नित्यता भी सिद्ध हो सकती है; नहीं तो इन्द्रियोंके विषय होनेपर तो रूपादिके समान उनकी भी अनित्यता ही सिद्ध होगी; और ऐसा होना ठीक नहीं है। "जिसमें समस्त

स मानसीन आत्मा" इति च श्रुतिर्नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवत्यृगादीनां नित्यत्वे समञ्जसा स्यात् । "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः" (श्वे० उ० ४ । ८) इति च मन्त्रवर्णः ।

आदेशोऽत्र ब्राह्मणम्; अतिदेष्टव्यविशेषानतिदिशतीति । अथर्वाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा ब्राह्मणं च शान्तिकपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात्पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति मनोमयात्मप्रकाशकः पूर्ववत् ॥१॥

वेद एकरूप हो जाते हैं वह मनरूप उपाधिमें स्थित आत्मा है" यह नित्य आत्माके साथ ऋगादिका एकत्व बतलानेवाली श्रुति भी उनका नित्यत्व सिद्ध होनेपर ही सार्थक हो सकती है । इस सम्बन्धमें "जिसमें सम्पूर्ण देव स्थित हैं उस अक्षर और परब्रह्मरूप आकाशमें ही ऋचाएँ तादात्म्यभावसे व्यवस्थित हैं" ऐसा मन्त्रवर्ण भी है ।

'आदेश आत्मा' इस वाक्यमें 'आदेश' शब्द ब्राह्मणका वाचक है; क्योंकि वेदोंका ब्राह्मणभाग ही कर्त्तव्यविशेषोंका आदेश (उपदेश) देता है । अथर्वाङ्गिरस ऋषिके साक्षात्कार किये हुए मन्त्र और ब्राह्मण ही पुच्छ—प्रतिष्ठा हैं, क्योंकि उनमें शान्ति और पुष्टिकी स्थितिके हेतुभूत कर्मोंकी प्रधानता है । पूर्ववत् इस विषयमें ही—मनोमय आत्माका प्रकाश करनेवाला ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मनोमय कोशकी महिमा तथा विज्ञानमय कोशका वर्णन

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है उस ब्रह्मानन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भयको प्राप्त नहीं होता। यह जो [मनोमय शरीर] है वही उस अपने पूर्ववर्ती [प्राणमय कोश] का शारीरिक आत्मा है। उस इस मनोमयसे दूसरा इसका अन्तर-आत्मा विज्ञानमय है। उसके द्वारा यह पूर्ण है। वह यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार ही है। उस [मनोमय] की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। उसका श्रद्धा ही शिर है। ऋत दक्षिण पक्ष है। सत्य उत्तर पक्ष है। योग आत्मा (मध्यभाग) है और महत्तत्त्व पुच्छ—प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सहेत्यादि । तस्य पूर्वस्य प्राणमयस्यैष एवात्मा शारीरः	जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है—इत्यादि [अर्थ स्पष्ट ही है] उस पूर्वकथित प्राणमयका यही शारीर

शरीरे प्राणमये भवः शारीरः । कः ? य एष मनोमयः । तस्माद्वा एतस्मादित्यादि पूर्ववत् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयो मनोमयस्याभ्यन्तरो विज्ञानमयः ।

अर्थात् प्राणमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा है । कौन ? यह जो मनोमय है । 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये । उस इस मनोमयसे दूसरा इसका अन्तर आत्मा विज्ञानमय है अर्थात् मनोमय कोशके भीतर विज्ञानमय कोश है ।

मनोमयो वेदात्मोक्तः । वेदार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्मः । तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निर्वर्तित आत्मा विज्ञानमयः । प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि यज्ञादिस्तायते । यज्ञादिहेतुत्वं च वक्ष्यति श्लोकेन ।

मनोमय कोश वेदरूप बतलाया गया था । वेदोंके अर्थके विषयमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उसीका नाम विज्ञान है । और वह अन्तःकरणका अध्यवसायरूप धर्म है । तन्मय अर्थात् प्रमाणस्वरूप निश्चय विज्ञानसे (निश्चयात्मिका बुद्धिसे) निष्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय है, क्योंकि प्रमाणके विज्ञानपूर्वक ही यज्ञादिका विस्तार किया जाता है । विज्ञान यज्ञादिका हेतु है— यह बात श्रुति आगे चलकर मन्त्रद्वारा बतलायेगी ।

निश्चयविज्ञानवतो हि कर्तव्येष्वर्थेषु पूर्वं श्रद्धोत्पद्यते । सा सर्वकर्तव्यानां प्राथम्याच्छिर इव शिरः । ऋतसत्ये यथाव्याख्याते एव । योगो युक्तिः

निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पन्न पुरुषको सबसे पहले कर्त्तव्य कर्ममें श्रद्धा ही उत्पन्न होती है । अतः सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रथम होनेके कारण वह शिरके समान उस विज्ञानमयका शिर है । ऋत और सत्यका अर्थ पहले (शीक्षावल्ली नवम अनुवाकमें) की हुई व्याख्याके ही समान है ।

समाधानम्, आत्मेवात्मा। आत्मवतो हि युक्तस्य समाधानवतोऽङ्गानीव श्रद्धादीनि यथार्थप्रतिपत्तिक्षमाणि भवन्ति। तस्मात्समाधानं योग आत्मा विज्ञानमयस्य। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

मह इति महत्तत्त्वं प्रथमजम्। "महद्यक्षं प्रथमजं वेद" (बृ० उ० ५। ४। १) इति श्रुत्यन्तरात्। पुच्छं प्रतिष्ठा कारणत्वात्। कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा। यथा वृक्षवीरुधां पृथिवी। सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं कारणम्। तेन तद्विज्ञानमयस्यात्मनः प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति पूर्ववत्। यथान्नमयादीनां ब्राह्मणोक्तानां प्रकाशकाः श्लोका एवं विज्ञानमयस्यापि॥१॥

योग—युक्ति अर्थात् समाधान ही आत्माके समान उसका आत्मा है। युक्त अर्थात् समाधानसम्पन्न आत्मवान् पुरुषके ही अङ्गादिके समान श्रद्धा आदि साधन यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। अतः समाधान यानी योग ही विज्ञानमय कोशका आत्मा है और महः उसकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है।

"प्रथम उत्पन्न हुए महान् यक्ष (पूजनीय) को जानता है" इस एक अन्य श्रुतिके अनुसार 'महः' यह महत्तत्त्वका नाम है। वही [विज्ञानमयका] कारण होनेसे उसकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है, क्योंकि कारण ही कार्यवर्गकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हुआ करता है, जैसे कि वृक्ष और लता-गुल्मादिकी प्रतिष्ठा पृथिवी है। महत्तत्त्व ही बुद्धिके सम्पूर्ण विज्ञानोंका कारण है। इसलिये वह विज्ञानमय आत्माकी प्रतिष्ठा है। पूर्ववत् उसके विषयमें ही यह श्लोक है अर्थात् जैसे पहले श्लोक ब्राह्मणोक्त अन्नमय आदिके प्रकाशक हैं उसी प्रकार यह विज्ञानमयका भी प्रकाशक श्लोक है॥ १॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः॥ ४॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय कोशका वर्णन

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

विज्ञान (विज्ञानवान् पुरुष) यज्ञका विस्तार करता है और वही कर्मोंका भी विस्तार करता है । सम्पूर्ण देव ज्येष्ठ विज्ञान-ब्रह्मकी उपासना करते हैं । यदि साधक 'विज्ञान ब्रह्म है' ऐसा जान जाय और फिर उससे प्रमाद न करे तो अपने शरीरके सारे पापोंको त्यागकर वह समस्त कामनाओं (भोगों) को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है । यह जो विज्ञानमय है वही उस अपने पूर्ववर्ती मनोमय शरीरका आत्मा है । उस इस विज्ञानमयसे दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है । उस आनन्दमयके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह आनन्दमय भी पुरुषाकार ही है । उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारताके समान ही यह पुरुषाकार है । उसका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

विज्ञानमयोपासनम्

विज्ञानं यज्ञं तनुते । विज्ञानवान्हि यज्ञं तनोति श्रद्धादिपूर्वकम् । अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुत इति कर्माणि च तनुते । यस्माद्विज्ञानकर्तृकं सर्वं तस्माद्युक्तं विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति । किं च विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवा इन्द्रादयो ज्येष्ठं प्रथमजत्वात्सर्वप्रवृत्तीनां वा तत्पूर्वकत्वात्प्रथमजं विज्ञानं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति तस्मिन्विज्ञानमये ब्रह्मण्यभिमानं कृत्वोपासत इत्यर्थः । तस्मात्ते महतो ब्रह्मण उपासनाज्ज्ञानैश्वर्यवन्तो भवन्ति ।

तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेद्यदि वेद विजानाति न केवलं वेदैव तस्माद्ब्रह्मणश्चेन्न प्रमाद्यति बाह्येष्वेवानात्मस्वात्मभावितत्वात्प्राप्तं विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मभावनायाः

विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है अर्थात् विज्ञानवान् पुरुष ही श्रद्धादिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करता है । अतः यज्ञानुष्ठानमें विज्ञानका कर्तृत्व है और तनुते—इसका भाव यह है कि वही कर्मोंका भी विस्तार करता है । इस प्रकार क्योंकि सब कुछ विज्ञानका ही किया हुआ है इसलिये 'विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कहना ठीक ही है । यही नहीं, इन्द्रादि सम्पूर्ण देवगण विज्ञानब्रह्मकी, जो सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे ज्येष्ठ है अथवा समस्त वृत्तियाँ विज्ञानपूर्वक होनेके कारण जो प्रथमोत्पन्न है, उस विज्ञानरूप ब्रह्मकी उपासना अर्थात् ध्यान करते हैं । तात्पर्य यह है कि वे उस विज्ञानमय ब्रह्ममें अभिमान करके उसकी उपासना करते हैं । अतः वे उस महद्ब्रह्मकी उपासना करनेसे ज्ञान और ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं ।

उस विज्ञानरूप ब्रह्मको यदि जान ले—केवल जान ही न ले बल्कि यदि उससे प्रमाद भी न करे; बाह्य अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि की हुई है, उसके कारण विज्ञानमय ब्रह्ममें की हुई आत्मभावनासे प्रमाद

प्रमदनं तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते तस्माच्चेन्न प्रमाद्यतीति, अन्नमयादिष्वात्मभावं हित्वा केवले विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्नास्ते चेदित्यर्थः ।

ततः किं स्यादित्युच्यते—

विज्ञानब्रह्मोपासनफलम्

शरीरे पाप्मनो हित्वा । शरीराभिमाननिमित्ता हि सर्वे पाप्मानः तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभिमानान्निमित्तापाये हानमुपपद्यते, छत्रापाय इवच्छायापायः । तस्माच्छरीराभिमाननिमित्तान् सर्वान्पाप्मनः शरीरप्रभवाञ्शरीर एव हित्वा विज्ञानमयब्रह्मस्वरूपापन्नस्तत्स्थान्सर्वान्कामान्विज्ञानमयेनैवात्मना समश्नुते सम्यग्भुङ्क्त इत्यर्थः ।

तस्य पूर्वस्य मनोमयस्यात्मैष

आनन्दमयस्य कार्यात्मत्वस्थापनम्

एव शरीरे मनोमये भवः शारीरः । कः ? य एष विज्ञानमयः । तस्माद्वा

होना सम्भव है; उसकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—'यदि उससे प्रमाद न करे' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि अन्नमय आदिमें आत्मभावको छोड़कर केवल विज्ञानमय ब्रह्ममें ही आत्मत्वकी भावना करके स्थित रहे—

तो क्या होगा ? इसपर कहते हैं—शरीरके पापोंको त्यागकर, सम्पूर्ण पाप शरीराभिमानके कारण ही होनेवाले हैं; विज्ञानमय ब्रह्ममें आत्मत्वका अभिमान करनेसे निमित्तका क्षय हो जानेपर उनका भी क्षय होना उचित ही है, जिस प्रकार कि छातेके हटा लिये जानेपर छायाकी भी निवृत्ति हो जाती है । अतः शरीराभिमानके कारण होनेवाले शरीरजनित सम्पूर्ण पापोंको शरीरहीमें त्यागकर विज्ञानमय ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुआ साधक उसमें स्थित सारे भोगोंको विज्ञानमय स्वरूपसे ही सम्यक्प्रकारसे प्राप्त कर लेता है अर्थात् उनका पूर्णतया उपभोग करता है ।

उस पूर्वकथित मनोमयका शारीर-मनोमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा भी यही है । कौन ? यह जो विज्ञानमय है । 'तस्माद्वा एतस्मात्'

एतस्मादित्युक्तार्थम् । आनन्दमय इति कार्यात्मप्रतीतिरधिकारान्मयट्शब्दाच्च । अन्नादिमया हि कार्यात्मानो भौतिका इहाधिकृताः । तदधिकारपतितश्चायमानन्दमयः, मयट् चात्र विकारार्थे दृष्टो यथान्नमय इत्यत्र । तस्मात्कार्यात्मानन्दमयः प्रत्येतव्यः ।

इत्यादि वाक्यका अर्थ पहले कहा जा चुका है । 'आनन्दमय' इस शब्दसे कार्यात्माकी प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ उसीका अधिकार (प्रसङ्ग) है और आनन्दके साथ 'मयट्' शब्दका प्रयोग किया गया है । यहाँ अन्नमय आदि भौतिक कार्यात्माओंका अधिकार है; उन्हींके अन्तर्गत यह आनन्दमय भी है । 'मयट्' प्रत्यय भी यहाँ विकारके अर्थमें देखा गया है; जैसा कि 'अन्नमय' इस शब्दमें है । अतः आनन्दमय कार्यात्मा है—ऐसा जानना चाहिये ।

संक्रमणाच्च; आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति वक्ष्यति । कार्यात्मनां च संक्रमणमनात्मनां दृष्टम् । संक्रमणकर्मत्वेन चानन्दमय आत्मा श्रूयते । यथान्नमयमात्मानमुपसंक्रामतीति । न चात्मन एवोपसंक्रमणम् । अधिकारविरोधादसंभवाच्च । न ह्या-

संक्रमणके कारण भी यही बात सिद्ध होती है । 'वह आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण करता है [अर्थात् आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है]' ऐसा आगे (अष्टम अनुवाकमें) कहेंगे । अन्नमयादि अनात्मा कार्यात्माओंका ही संक्रमण होता देखा गया है । और संक्रमणके कर्मरूपसे आनन्दमय आत्माका श्रवण होता है, जैसे कि 'यह अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण (गमन) करता है' [इस वाक्यमें देखा जाता है] । स्वयं आत्माका ही संक्रमण होना सम्भव है नहीं, क्योंकि इससे उस प्रसंगमें विरोध आता है और ऐसा होना सम्भव भी नहीं है । आत्माका आत्माको

त्मनैवात्मन उपसंक्रमणं संभवति। स्वात्मनि भेदाभावात्। आत्मभूतं च ब्रह्म सङ्क्रमितुः।

शिरआदिकल्पनानुपपत्तेश्च। न हि यथोक्तलक्षण आकाशादिकारणेऽकार्यपतिते शिरआद्यवयवरूपकल्पनोपपद्यते। "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २।७।१) "अस्थूलमनणु" (बृ० उ० ३।८।८) "नेति नेत्यात्मा" (बृ०उ०३।९।२६) इत्यादिविशेषापोहश्रुतिभ्यश्च।

मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्च। न हि प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे प्रत्यक्षतोऽनुभूयमान आनन्दमय आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्याशङ्काभावात् "असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" (तै० उ० २।६।१) इति

ही प्राप्त होना कभी सम्भव नहीं है, क्योंकि अपने आत्मामें भेदका सर्वथा अभाव है और ब्रह्म भी संक्रमण करनेवालेका आत्मा ही है।

[आत्मामें] शिर आदिकी कल्पना असम्भव होनेके कारण भी [आनन्दमय कार्यात्मा ही है]। आकाशादिके कारण और कार्यवर्गके अन्तर्गत न आनेवाले उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट आत्मामें शिर आदि अवयवरूप कल्पनाका होना संगत नहीं है। आत्मामें विशेष धर्मोंका बाध करनेवाली "अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रयमें" "स्थूल और सूक्ष्मसे रहित" "आत्मा यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है।

[आनन्दमयको यदि आत्मा माना जाय तो] आगे कहे हुए मन्त्रका उदाहरण देना भी नहीं बनता। शिर आदि अवयवोंसे युक्त आनन्दमय आत्मारूप ब्रह्मके प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर तो ऐसी शंका ही नहीं हो सकती कि ब्रह्म नहीं है, जिससे कि [उस शंकाकी निवृत्तिके लिये] "जो पुरुष, ब्रह्म नहीं है—ऐसा जानता है वह असद्रूप

मन्त्रोदाहरणमुपपद्यते। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यपि चानुपपन्नं पृथग्ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वेन ग्रहणम् । तस्मात्कार्यपतित एवानन्दमयो न पर एवात्मा ।

आनन्दमयकोश-प्रतिपादनम्

आनन्द इति विद्याकर्मणोः फलं तद्विकार आनन्दमयः । स च विज्ञानमयादान्तरः । यज्ञादिहेतोर्विज्ञानमयादस्यान्तरत्वश्रुतेः । ज्ञानकर्मणोर्हि फलं भोक्त्रर्थत्वादान्तरतमं स्यात् । आन्तरतमश्चानन्दमय आत्मा पूर्वेभ्यः । विद्याकर्मणोः प्रियाद्यर्थत्वाच्च । प्रियादिप्रयुक्ते हि विद्याकर्मणी । तस्मात्प्रियादीनां फलरूपाणामात्मसंनिकर्षाद्विज्ञानमयस्याभ्यन्तरत्वमुपपद्यते । प्रियादिवासनानिर्वृत्तो ह्यानन्द-

ही है" इस मन्त्रका उल्लेख संगत हो सके। तथा 'ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा है' इस वाक्यके अनुसार प्रतिष्ठारूपसे ब्रह्मको पृथक् ग्रहण करना भी नहीं बन सकता। अतः यह आनन्दमय कार्यवर्गके अन्तर्गत ही है—परमात्मा नहीं है।

'आनन्द' यह उपासना और कर्मका फल है, उसका विकार आनन्दमय कहलाता है। वह विज्ञानमय कोशसे आन्तर है, क्योंकि श्रुतिके द्वारा वह यज्ञादिके कारणभूत विज्ञानमयकी अपेक्षा आन्तर बतलाया गया है। उपासना और कर्मका फल भोक्ताके ही लिये है, इसलिये वह सबसे आन्तरतम होना चाहिये; सो पूर्वोक्त सब कोशोंकी अपेक्षा आनन्दमय आत्मा आन्तरतम है ही; क्योंकि विद्या और कर्म भी [प्रधानतया] प्रिय आदिके ही लिये हैं। प्रिय आदिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही उपासना और कर्मका अनुष्ठान किया जाता है; अतः उनके फलरूप प्रिय आदिका आत्मासे सान्निध्य होनेके कारण विज्ञानमयकी अपेक्षा इस (आनन्दमय कोश) का आन्तरतम होना उचित ही है। प्रिय आदिकी वासनासे निष्पन्न

मयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्न उपलभ्यते ।

हुआ यह आनन्दमय स्वप्नावस्थामें विज्ञानमयके अधीन ही उपलब्ध होता है ।

आनन्दमयस्य पुरुषविधत्वम्

तस्यानन्दमयस्यात्मन इष्टपुत्रादिदर्शनजं प्रियं शिर इव शिरः प्राधान्यात् । मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः । स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः । आनन्द इति सुखसामान्यमात्मा प्रियादीनां सुखावयवानाम् । तेष्वनुस्यूतत्वात् ।

उस आनन्दमय आत्माका पुत्रादि इष्ट पदार्थोंके दर्शनसे होनेवाला प्रिय ही प्रधानताके कारण शिरके समान शिर है । प्रिय पदार्थकी प्राप्तिसे होनेवाला हर्ष 'मोद' कहलाता है; वही हर्ष प्रकृष्ट (अतिशय) होनेपर 'प्रमोद' कहा जाता है । 'आनन्द' सामान्य सुखका नाम है; वह सुखके अवयवभूत प्रिय आदिका आत्मा है, क्योंकि उसीमें वे सब अनुस्यूत हैं ।

आनन्द इति परं ब्रह्म । तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधावन्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसा प्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते । तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके । तद्वृत्तिविशेषप्रत्युपस्थापकस्य कर्मणोऽनवस्थितत्वात्सुखस्य क्षणिकत्वम् । तद्यदान्तःकरणं तपसा तमोघ्नेन विद्यया ब्रह्मचर्येण श्रद्धया

'आनन्द' यह परब्रह्मका ही वाचक है । वही शुभकर्मद्वारा प्रस्तुत किये हुए पुत्र-मित्रादि विशेष विषय ही जिसकी उपाधि हैं उस सुप्रसन्न अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषमें, जब कि वह तमोगुणसे आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है । वह लोकमें विषय-सुख नामसे प्रसिद्ध है । उस वृत्तिविशेषको प्रस्तुत करनेवाले कर्मके अस्थिर होनेके कारण उस सुखकी भी क्षणिकता है । अतः जिस समय अन्तःकरण तमोगुणको नष्ट करनेवाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य और श्रद्धाके द्वारा

च निर्मलत्वमापद्यते यावद्याव-त्तावत्तावद्विविक्ते प्रसन्नेऽन्तः-करण आनन्दविशेष उत्कृष्यते विपुलीभवति । वक्ष्यति च—"रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति एष ह्येवान-न्दयाति" (तै० उ० २ । ७ । १) "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति च श्रुत्यन्तरात् । एवं च कामोप-शमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरो-त्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते ।

जितना-जितना निर्मलताको प्राप्त होता है उतने-उतने ही स्वच्छ और प्रसन्न हुए उस अन्तःकरणमें विशेष आनन्दका उत्कर्ष होता है अर्थात् वह बहुत बढ़ जाता है । यही बात "वह रस ही है, इस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दी हो जाता है । यह रस ही सबको आनन्दित करता है ।" इस प्रकार आगे कहेंगे, तथा "इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रय ही सब प्राणी जीवित रहते हैं" इस अन्य श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है । इसी प्रकार काम-शान्तिके उत्कर्षकी अपेक्षा आगे-आगेके आनन्दका सौ-सौ गुना उत्कर्ष आगे बतलाया जायगा ।

एवं चोत्कृष्यमाणस्यानन्द-मयस्यात्मनः परमार्थब्रह्मविज्ञाना-पेक्षया ब्रह्म परमेव । यत्प्रकृतं सत्यज्ञानानन्तलक्षणम्, यस्य च प्रतिपत्त्यर्थं पञ्चान्नादिमयाः कोशा उपन्यस्ताः, यच्च तेभ्य आभ्यन्तरम्, येन च ते सर्वे आत्मवन्तः, तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।

इस प्रकार परमार्थ ब्रह्मके विज्ञान-की अपेक्षासे क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होनेवाले आनन्दमय आत्माकी अपेक्षा ब्रह्म पर ही है । जो प्रकृत ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है, जिसकी प्राप्तिके लिये अन्नमय आदि पाँच कोशोंका उपन्यास किया गया है, जो उन सबकी अपेक्षा अन्तर्वर्ती है, और जिसके द्वारा वे सब आत्मवान् हैं—वह ब्रह्म ही उस आनन्दमयकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है ।

तदेव च सर्वस्याविद्यापरिकल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा आनन्दमयस्य। एकत्वावसानत्वात्। अस्ति तदेकमविद्याकल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा पुच्छम्। तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति ॥१॥

अविद्याद्वारा कल्पना किये हुए सम्पूर्ण द्वैतका निषेधावधिभूत वह अद्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि आनन्दमयका पर्यवसान भी एकत्वमें ही होता है। अविद्या-परिकल्पित द्वैतका अवसानभूत वह एक और अद्वितीय ब्रह्म उसकी प्रतिष्ठा यानी पुच्छ है। उस इसी अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥



षष्ठ अनुवाक

ब्रह्मको सत् और असत् जाननेवालोंका भेद, ब्रह्मज्ञ और अब्रह्मज्ञकी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें शंका तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चरूपसे ब्रह्मके स्थित होनेका निरूपण।

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ। सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है। और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है' तो [ब्रह्मवेत्ताजन] उसे सत् समझते हैं। उस पूर्वकथित (विज्ञानमय) का यह जो [आनन्दमय] है शरीर-स्थित आत्मा है। अब (आचार्यका ऐसा उपदेश सुननेके अनन्तर शिष्यके) ये अनुप्रश्न हैं—क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर परमात्माको प्राप्त हो सकता है? अथवा कोई विद्वान् भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर परमात्माको

प्राप्त होता है या नहीं ? [इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये आचार्य भूमिका बाँधते हैं—] उस परमात्माने कामना की 'मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ ।' अतः उसने तप किया । उसने तप करके ही यह जो कुछ है इस सबकी रचना की । इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया । इसमें अनुप्रवेश कर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त-अमूर्त, [देशकालादि परिच्छिन्नरूपसे] कहे जानेयोग्य, और न कहे जानेयोग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक सत्य-असत्य-रूप हो गया । यह जो कुछ है उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' इस नामसे पुकारते हैं । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥१॥

सदसद्वादिनोर्भेदः

असन्नेवासत्सम एव यथा-सन्न पुरुषार्थसंबन्ध्येवं स भवति अपुरुषार्थसंबन्धी । कोऽसौ ? योऽसदविद्यमानं ब्रह्मेति वेद विजानाति चेद्यदि । तद्विपर्ययेण यत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्ति-बीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमप्य-स्ति तद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।

जिस प्रकार असत् (अविद्यमान) पदार्थ पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं होता उसी प्रकार वह भी असत्—असत्के समान ही पुरुषार्थसे सम्बन्ध नहीं रखनेवाला हो जाता है—वह कौन ? जो 'ब्रह्म असत्—अविद्यमान है' ऐसा जानता है । 'चेत्' शब्दका अर्थ 'यदि' है । इसके विपरीत 'जो तत्त्व सम्पूर्ण विकल्पोंका आश्रय, समस्त प्रवृत्तियोंका बीजरूप और सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित भी है वही ब्रह्म है' ऐसा यदि कोई जानता है [तो उसे ब्रह्मवेत्तालोग सद्रूप समझते हैं इस प्रकार इसका आगेके वाक्यसे सम्बन्ध है] ।

कुतः पुनराशङ्का तन्नास्तित्वे ? व्यवहारातीतत्वं ब्रह्मण इति ब्रूमः । व्यवहारविषये हि वाचा-

किन्तु ब्रह्मके अस्तित्वाभावके विषयमें शंका क्यों की जाती है ? [इसपर] हमारा यह कथन है कि ब्रह्म व्यवहारसे परे है । [इसी-लिये] व्यवहारके विषयभूत पदार्थों-

रम्भणमात्रेऽस्तित्वभाविता बुद्धिस्तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्तित्वमपि प्रतिपद्यते । यथा घटादिर्व्यवहारविषयतयोपपन्नः संस्तद्विपरीतोऽसन्निति प्रसिद्धम् । एवं तत्सामान्यादिहापि स्याद्ब्रह्मणो नास्तित्वप्रत्याशङ्का । तस्मादुच्यते—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदेति ।

किं पुनः स्यात्तदस्तीति विजानतस्तदाह—सन्तं विद्यमानब्रह्मस्वरूपेण परमार्थसदात्मापन्नमेनमेवंविदं विदुर्ब्रह्मविदस्ततः तस्मादस्तित्ववेदनात्सोऽन्येषां ब्रह्मवद्विज्ञेयो भवतीत्यर्थः ।

अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्याश्र-

में ही, जो कि केवल वाणीसे ही उच्चारण किये जानेवाले हैं, अस्तित्वकी भावनासे भावित हुई बुद्धि उनसे विपरीत व्यवहारातीत पदार्थोंमें अस्तित्वका भी अनुभव नहीं करती; जैसे कि [जल लाना आदि] व्यवहारके विषयरूपसे उपपन्न हुआ घट आदि पदार्थ 'सत्' और उससे विपरीत [वन्ध्यापुत्रादि] 'असत्' होता है—इस प्रकार प्रसिद्ध है । उसी प्रकार उसकी समानताके कारण यहाँ भी ब्रह्मके अविद्यमानत्वके विषयमें शंका हो सकती है । इसीलिये कहा है—'ब्रह्म है—ऐसा यदि कोई जानता है' इत्यादि ।

किन्तु 'वह (ब्रह्म) है' ऐसा जाननेवाले पुरुषको क्या फल मिलता है ? इसपर कहते हैं—ब्रह्मवेत्तालोग इस प्रकार जाननेवाले इस पुरुषको सत्—विद्यमान अर्थात् ब्रह्मरूपसे परमार्थ सत्स्वरूपको प्राप्त हुआ समझते हैं । तात्पर्य यह है कि इस कारणसे ब्रह्मके अस्तित्वको जाननेके कारण वह दूसरोंके लिये ब्रह्मके समान जाननेयोग्य हो जाता है ।

अथवा जो पुरुष 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा मानता है वह अश्रद्धालु होनेके कारण, वर्णाश्रमादि व्यवस्थारूप सारे ही शुभमार्गका,

दधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते-ऽब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य । अतो नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते लोके । तद्विपरीतः सन्योऽस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद स तद्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्दधानतया यथावत्प्रतिपद्यते यस्मात्ततस्तस्मात् सन्तं साधुमार्गस्थमेनं विदुः साधवः तस्मादस्तीत्येव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यार्थः ।

असत्त्व प्रतिपादन करता है, क्योंकि वह भी ब्रह्मकी प्राप्तिके ही लिये है। अतः वह नास्तिक लोकमें असत्—असाधु कहा जाता है। इसके विपरीत जो पुरुष 'ब्रह्म है' ऐसा जानता है वह 'सत्' है, क्योंकि वह उस ब्रह्मकी प्राप्तिके हेतुभूत वर्णाश्रमादिके व्यवस्थारूप सन्मार्गको श्रद्धापूर्वक ठीक-ठीक जानता है। इसीलिये साधुलोग उसे सत् यानी शुभ मार्गमें स्थित जानते हैं। अतः 'ब्रह्म है' ऐसा ही जानना चाहिये—यह इस वाक्यका अर्थ है।

तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शरीरे विज्ञानमये भवः शारीर आत्मा। कोऽसौ ? य एष आनन्दमयः। तं प्रति नास्त्याशङ्का नास्तित्वे। अपोढसर्वविशेषत्वात्तु ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का युक्ता। सर्वसामान्याच्च ब्रह्मणः। यस्मादेवमतः तस्मात्, अथानन्तरं श्रोतुः शिष्यस्यानुप्रश्ना आचार्योक्तिमनु एते प्रश्ना अनुप्रश्नाः ।

उस विज्ञानमयका यही शारीर—विज्ञानमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा है। वह कौन ? यह जो आनन्दमय है। उसके नास्तित्वमें तो कुछ भी शंका नहीं है। किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित है इसलिये उसके अस्तित्वके अभावमें शंका होना उचित ही है। इसके सिवा ब्रह्मकी सबके साथ समानता होनेके कारण भी [ऐसी शंका हो ही सकती है]। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये अब—इसके अनन्तर श्रवण करनेवाले शिष्यके अनुप्रश्न हैं। आचार्यकी इस उक्तिके पश्चात् किये जानेवाले ये प्रश्न—अनुप्रश्न हैं——

सामान्यं हि ब्रह्माकाशादिकारणत्वाद्विदुषोऽविदुषश्च । तस्मादविदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते— उत अपि अविद्वानमुं लोकं परमात्मानमितः प्रेत्य कश्चन, चनशब्दोऽप्यर्थे, अविद्वानपि गच्छति प्राप्नोति किं वा न गच्छतीति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्टव्योऽनुप्रश्ना इति बहुवचनात् ।

विद्वदविद्वद्भेदेन ब्रह्मप्राप्त्याक्षेपः

आकाशादिका कारण होनेसे ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनोंहीके लिये समान है। इससे अविद्वान्‌को भी ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—ऐसी आशंका की जाती है—क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर इस लोक अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ?—'कश्चन' में 'चन' शब्द 'अपि (भी)' के अर्थमें है। 'अथवा नहीं होता ?' यह इसके साथ दूसरा प्रश्न भी समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ 'अनुप्रश्नाः' ऐसा बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ । यद्यविद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म न गच्छति ततो विदुषोऽपि ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते । अतस्तं प्रति प्रश्न आहो विद्वानिति । उकारं च वक्ष्यमाणमधस्तादपकृष्य तकारं च पूर्वस्मादुतशब्दाद्व्यासज्याहो इत्येतस्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोज्य पृच्छति—उताहो विद्वानिति ।

अन्य दो प्रश्न विद्वान्‌के विषयमें हैं—ब्रह्म सबका साधारण कारण है, तब भी यदि अविद्वान् उसे प्राप्त नहीं होता तो विद्वान्‌के भी ब्रह्मको प्राप्त न होनेकी आशंका होती है; अतः उसके उद्देश्यसे पूछा जाता है—'क्या विद्वान् भी' आदि। [मूल मन्त्रमें] आगे कहे जानेवाले 'उ' को आगेसे खींचकर और पूर्वोक्त 'उत' शब्दसे उसमें 'त' जोड़कर 'आहो' इस शब्दके पहले 'उत' शब्द जोड़कर 'उताहो विद्वान्' इत्यादि प्रकारसे पूछता है—क्या

विद्वान्ब्रह्मविदपि कश्चिदितः प्रेत्यामुं लोकं समश्नुते प्राप्नोति समश्नुते उ इत्येवंस्थिते, अयादेशे यलोपे च कृतेऽकारस्य प्लुतिः समश्नुता ३ उ इति । विद्वान्समश्नुतेऽमुं लोकम् । किं वा यथाविद्वानेवं विद्वानपि न समश्नुत इत्यपरः प्रश्नः ।

कोई विद्वान् अर्थात् ब्रह्मवेत्ता भी इस शरीरको छोड़कर इस लोकको प्राप्त कर लेता है ? यहाँ मूलमें 'समश्नुते उ' ऐसा पद था । उसमें 'अय्' आदेश करके ['लोपः शाकल्यस्य' इस सूत्रके अनुसार] 'य्' का लोप करनेपर 'समश्नुत उ' ऐसा प्रयोग सिद्ध होता है । फिर 'त' के अकारको प्लुत करनेपर 'समश्नुता ३ उ' ऐसा पाठ हुआ है । विद्वान् इस लोकको प्राप्त होता है ? अथवा अविद्वान्के समान विद्वान् भी उसे प्राप्त नहीं होता ? यह एक अन्य प्रश्न है ।

द्वावेव वा प्रश्नौ विद्वदविद्वद्विषयौ । बहुवचनं तु सामर्थ्यप्राप्तप्रश्नान्तरापेक्षया घटते । 'असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' इति श्रवणादस्ति नास्तीति संशयस्ततोऽर्थप्राप्तः किमस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः । ब्रह्मणोऽपक्षपातित्वादविद्वान् गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः । ब्रह्मणः समत्वेऽप्यविदुष इव

अथवा विद्वान् और अविद्वान्से सम्बन्धित ये केवल दो ही प्रश्न हैं । इनकी सामर्थ्यसे प्राप्त एक और प्रश्नकी अपेक्षासे ही बहुवचन हो गया है । 'ब्रह्म असत् है—यदि ऐसा जानता है' तथा 'ब्रह्म है—यदि ऐसा जानता है' ऐसी श्रुति होनेसे 'ब्रह्म है या नहीं' ऐसा सन्देह होता है । अतः 'ब्रह्म है या नहीं' यह अर्थतः प्राप्त पहला अनुप्रश्न है । और ब्रह्म पक्षपाती है नहीं, इसलिये 'अविद्वान् उसे प्राप्त होता है या नहीं ?' यह दूसरा अनुप्रश्न है । तथा ब्रह्म समान है, इसलिये

विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्यते किं विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इति तृतीयोऽनुप्रश्नः ।

अविद्वान्‌के समान विद्वान्‌की भी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें 'विद्वान् उसे प्राप्त होता है या नहीं ?' ऐसी शंका की जाती है । यह तीसरा अनुप्रश्न है ।

ब्रह्मणः सत्त्व-रूपत्वस्थापनम्

एतेषां प्रतिवचनार्थमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते । तत्रास्तित्वमेव तावदुच्यते । यच्चोक्तं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तच्च कथं सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्यमितीदमुच्यते सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते। उक्तं हि "सदेव सत्यम्" इति । तस्मात्सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते । कथमेवमर्थतावगम्यतेऽस्य ग्रन्थस्य शब्दानुगमात् । अनेनैव ह्यर्थेनान्वितान्युत्तराणि वाक्यानि "तत्सत्यमित्याचक्षते" (तै० उ० २ । ६ । १) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २ । ७ । १) इत्यादीनि ।

आगेका ग्रन्थ इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये ही आरम्भ किया जाता है । उसमें सबसे पहले ब्रह्मके अस्तित्वका ही वर्णन किया जाता है । 'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है' ऐसा जो पहले कह चुके हैं सो वह ब्रह्मकी सत्यता किस प्रकार है---यह बतलाना चाहिये । इसपर कहते हैं—उसकी सत्ता बतलानेसे ही उसके सत्यत्वका भी प्रतिपादन हो जाता है । "सत् ही सत्य है" ऐसा अन्यत्र कहा भी है । अतः उसकी सत्ता बतलानेसे ही उसका सत्यत्व भी बतला दिया जाता है । किन्तु इस ग्रन्थका भी यही तात्पर्य है --यह कैसे जाना गया ? इसपर कहते हैं—शब्दोंके अनुगमन (अभिप्राय) से; क्योंकि "वह सत्य है—ऐसा कहते हैं" "यदि यह आनन्दमय आकाश न होता" आदि आगेके वाक्य भी इसी अर्थसे युक्त हैं ।

तत्रासदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते । कस्मात् ? यदस्ति तद्विशेषतो गृह्यते यथा घटादि । यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणादि । तथा नोपलभ्यते ब्रह्म । तस्माद्विशेषतोऽग्रहणान्नास्तीति ।

इसमें यह आशंका की जाती है कि ब्रह्म असत् ही है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि जो वस्तु होती है वह विशेषरूपसे उपलब्ध हुआ करती है; जैसे कि घट आदि । और जो नहीं होती उसकी उपलब्धि भी नहीं होती; जैसे—शशशृंगादि । इसी प्रकार ब्रह्मकी भी उपलब्धि नहीं होती । अतः विशेषरूपसे ग्रहण न किया जानेके कारण वह है ही नहीं।

तन्न; आकाशादिकारणत्वाद्ब्रह्मणः । न नास्ति ब्रह्म । कस्मादाकाशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो जातं गृह्यते । यस्माच्च जायते किंचित्तदस्तीति दृष्टं लोके; यथा घटाङ्कुरादिकारणं मृद्बीजादि । तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति ब्रह्म ।

ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म आकाशादिका कारण है । ब्रह्म नहीं है—ऐसी बात नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ आकाशादि सम्पूर्ण कार्यवर्ग देखनेमें आता है । जिससे किसी वस्तुका जन्म होता है वह पदार्थ होता ही है—ऐसा लोकमें देखा गया है; जैसे कि घट और अङ्कुरादिके कारण मृत्तिका एवं बीज आदि । अतः आकाशादिका कारण होनेसे ब्रह्म है ही ।

न चासतो जातं किंचिद्गृह्यते लोके कार्यम् । असतश्चेन्नामरूपादि कार्यं निरात्मकत्वा-

लोकमें असत्से उत्पन्न हुआ कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता । यदि नाम-रूपादि कार्यवर्ग असत्से उत्पन्न हुआ होता तो वह निराधार

नोपलभ्येत । उपलभ्यते तु; तस्मादस्ति ब्रह्म । असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणमप्यसदन्वितमेव तत् स्यात् । न चैवम्; तस्मादस्ति ब्रह्म तत्र । "कथमसतः सज्जायेत" (छा० उ० ६ । २ । २) इति श्रुत्यन्तरमसतः सज्जन्मासंभवमन्वाचष्टे न्यायतः । तस्मात्सदेव ब्रह्मेति युक्तम् ।

होनेके कारण ग्रहण ही नहीं किया जा सकता था । किन्तु वह ग्रहण किया ही जाता है; इसलिये ब्रह्म है ही । यदि यह कार्यवर्ग असत्से उत्पन्न हुआ होता तो ग्रहण किये जानेपर भी असदात्मक ही ग्रहण किया जाता । किन्तु ऐसी बात है नहीं । इसलिये ब्रह्म है ही । इसी सम्बन्धमें "असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है" ऐसी एक अन्य श्रुतिने युक्तिपूर्वक असत्से सत्का जन्म होना असम्भव बतलाया है । इसलिये ब्रह्म सत् ही है—यही मत ठीक है ।

तद्यदि मृद्बीजादिवत्कारणं स्यादचेतनं तर्हि ?

शंका—यदि ब्रह्म मृत्तिका और बीज आदिके समान [जगत्का उपादान] कारण है तो वह अचेतन होना चाहिये ।

ब्रह्मणश्चित्स्वरूपत्वविवेचनम्

न, कामयितृत्वात् । न हि कामयित्रचेतनमस्ति लोके । सर्वज्ञं हि ब्रह्मेत्यवोचाम । अतः कामयितृत्वोपपत्तिः ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह कामना करनेवाला है । लोकमें कोई भी कामना करनेवाला अचेतन नहीं हुआ करता । ब्रह्म सर्वज्ञ है—यह हम पहले कह चुके हैं । अतः उसका कामना करना भी युक्त ही है ।

कामयितृत्वादस्मदादिवदनाप्तकाममिति चेत् ?

शंका—कामना करनेवाला होनेसे तो वह हमारी-तुम्हारी तरह अनाप्तकाम (अपूर्ण कामनावाला) सिद्ध होगा।

न, स्वातन्त्र्यात् ! यथान्यान् परवशीकृत्य कामादिदोषाः प्रवर्तयन्ति न तथा ब्रह्मणः प्रवर्तकाः कामाः । कथं तर्हि सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्मभूतत्वाद्विशुद्धा न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते । तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म प्राणिकर्मापेक्षया । तस्मात्स्वातन्त्र्यं कामेषु ब्रह्मणः । अतो नानाप्तकामं ब्रह्म ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है । जिस प्रकार काम आदि दोष अन्य जीवोंको विवश करके प्रवृत्त करते हैं उस प्रकार वे ब्रह्मके प्रवर्तक नहीं हैं । तो वे कैसे हैं ? वे सत्य-ज्ञान-स्वरूप एवं स्वात्मभूत होनेके कारण विशुद्ध हैं । उनके द्वारा ब्रह्म प्रवृत्त नहीं किया जाता; बल्कि जीवोंके प्रारब्ध-कर्मोंकी अपेक्षासे वह ब्रह्म ही उनका प्रवर्तक है । अतः कामनाओंके करनेमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है । इसलिये ब्रह्म अनाप्त-काम नहीं है ।

साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च । किं च यथान्येषामनात्मभूता धर्मादिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्मव्यतिरिक्तकार्यकरणसाधनान्तरापेक्षाश्च न तथा ब्रह्मणो निमि-

किन्हीं अन्य साधनोंकी अपेक्षावाला न होनेसे भी कामनाओंके विषयमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है । जिस प्रकार धर्मादि कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाली अन्य जीवोंकी अनात्मभूत कामनाएँ अपने आत्मासे अतिरिक्त देह और इन्द्रियरूप अन्य साधनोंकी अपेक्षावाली होती हैं उस प्रकार ब्रह्मको निमित्त आदिकी अपेक्षा

त्ताद्यपेक्षत्वम् । किं तर्हि स्वात्मनोऽनन्याः ।

तदेतदाह सोऽकामयत स ब्रह्मणो आत्मा यस्मादाकाशः बहुभवनसङ्कल्पः संभूतोऽकामयत कामितवान् । कथम् ? बहु स्यां बहु प्रभूतं स्यां भवेयम् । कथमेकस्यार्थान्तराननुप्रवेशे बहुत्वं स्यादित्युच्यते । प्रजायेयोत्पद्येय । न हि पुत्रोत्पत्त्येवार्थान्तरविषयं बहुभवनम्, कथं तर्हि ? आत्मस्थानाभिव्यक्तनामरूपाभिव्यक्त्या । यदात्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाप्रविभक्तदेशकाले सर्वावस्थासु व्याक्रियेते तदा तन्नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहुभवनम् । नान्यथा निरवयवस्य ब्रह्मणो बहुत्वापत्तिरुपपद्यतेऽल्प-

नहीं होती । तो ब्रह्मकी कामनाएँ कैसी होती हैं ? वे स्वात्मासे अभिन्न होती हैं ।

उसीके विषयमें श्रुति कहती है—उसने कामना की—उस आत्माने, जिससे कि आकाश उत्पन्न हुआ है, कामना की । किस प्रकार कामना की ? मैं बहुत—अधिक रूपमें हो जाऊँ। अन्य पदार्थमें प्रवेश किये बिना ही एक वस्तुकी बहुलता कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—'प्रजायेय' अर्थात् उत्पन्न होऊँ। यह ब्रह्मका बहुत होना पुत्रकी उत्पत्तिके समान अन्य वस्तुविषयक नहीं है । तो फिर कैसा है ? अपनेमें अव्यक्तरूपसे स्थित नाम-रूपोंकी अभिव्यक्तिके द्वारा ही [यह अनेकरूप होना है] । जिस समय आत्मामें स्थित अव्यक्त नाम और रूपोंको व्यक्त किया जाता है उस समय वे अपने स्वरूपका त्याग किये बिना ही समस्त अवस्थाओंमें ब्रह्मसे अभिन्न देश और कालमें ही व्यक्त किये जाते हैं । यह नाम-रूपका व्यक्त करना ही ब्रह्मका बहुत होना है । इसके सिवा और किसी प्रकार निरवयव ब्रह्मका बहुत अथवा अल्प होना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार

त्वं वा । यथाकाशस्याल्पत्वं बहुत्वं च वस्त्वन्तरकृतमेव । अतस्तद्द्वारेणैवात्मा बहु भवति ।

कि आकाशका अल्पत्व और बहुत्व भी अन्य वस्तुके ही अधीन है [उसी प्रकार ब्रह्मका भी है] । अतः उन (नाम-रूपों) के द्वारा ही ब्रह्म बहुत हो जाता है ।

न ह्यात्मनोऽन्यदनात्मभूतं तत्प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वा वस्तु विद्यते । अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैवात्मवती, न ब्रह्म तदात्मकम् । ते तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेति तदात्मके उच्येते । ताभ्यां चोपाधिभ्यां ज्ञातृज्ञेयज्ञानशब्दार्थादिसर्वसंव्यवहारभाग्ब्रह्म ।

आत्मासे भिन्न अनात्मभूत, तथा उससे भिन्न देश-कालमें रहनेवाली कोई भी सूक्ष्म, व्यवहित (ओटवाली), दूरस्थ, अथवा भूत या भविष्यकालीन वस्तु नहीं है । अतः सम्पूर्ण अवस्थाओंसे सम्बन्धित नाम और रूप ब्रह्मसे ही आत्मवान् हैं, किन्तु ब्रह्म तद्रूप नहीं है । ब्रह्मका निषेध करनेपर वे रह ही नहीं सकते, इसीसे वे तद्रूप कहे जाते हैं । उन उपाधियोंसे ही ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—इन शब्दोंका तथा इनके अर्थ आदि सब प्रकारके व्यवहारका पात्र बनता है ।

स आत्मैवंकामः संस्तपोऽतप्यत । तप इति ज्ञानमुच्यते । "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० उ० १ । १ । ८) इति श्रुत्यन्तरात् । आप्तकामत्वाच्चेतरस्यासंभव एव तपसः । तत्तपोऽतप्यत तप्तवान् ।

उस आत्माने ऐसी कामनावाला होकर तप किया । 'तप' शब्दसे यहाँ ज्ञान कहा जाता है, जैसा कि "जिसका ज्ञानरूप तप है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । आप्तकाम होनेके कारण आत्माके लिये अन्य तप तो असम्भव ही है । 'उसने तप किया' इसका तात्पर्य यह है

सृज्यमानजगद्रचनादिविषयामालोचनामकरोदात्मेत्यर्थः ।

स एवमालोच्य तपस्तप्त्वा प्राणिकर्मादिनिमित्तानुरूपमिदं सर्वं जगद्देशतः कालतो नाम्ना रूपेण च यथानुभवं सर्वैः प्राणिभिः सर्वावस्थैरनुभूयमानमसृजत सृष्टवान् । यदिदं किं च यत्किं चेदमविशिष्टम् । तदिदं जगत्सृष्ट्वा किमकरोदित्युच्यते—तदेव सृष्टं जगदनुप्राविशदिति ।

तस्य जगदनुप्रवेशः

तत्रैतच्चिन्त्यं कथमनुप्राविशदिति । किं यः स्रष्टा स तेनैवात्मनानुप्राविशदुतान्येनेति, किं तावद्युक्तम् ? क्त्वाप्रत्ययश्रवणाद्यः स्रष्टा स एवानुप्राविशदिति ।

कि आत्माने रचे जानेवाले जगत्की रचना आदिके विषयमें आलोचना की।

इस प्रकार आलोचना अर्थात् तप करके उसने प्राणियोंके कर्मादि निमित्तोंके अनुरूप इस सम्पूर्ण जगत्को रचा, जो देश, काल, नाम और रूपसे यथानुभव सारी अवस्थाओंमें स्थित सभी प्राणियोंद्वारा अनुभव किया जाता है । यह जो कुछ है अर्थात् सामान्यरूपसे यह जो कुछ जगत् है इसे रचकर उसने क्या किया, सो बतलाते हैं—वह उस रचे हुए जगत्में ही अनुप्रविष्ट हो गया ।

अब यहाँ यह विचारना है कि उसने किस प्रकार अनुप्रवेश किया ? जो स्रष्टा था, क्या उसने स्वस्वरूपसे ही अनुप्रवेश किया अथवा किसी और रूपसे ? इनमें कौन-सा पक्ष समीचीन है ? श्रुतिमें ['सृष्ट्वा' इस क्रियामें] 'क्त्वा' प्रत्यय होनेसे तो यही ठीक जान पड़ता है कि जो स्रष्टा था उसीने पीछे प्रवेश भी किया ।*

* 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकालिक क्रियामें हुआ करता है । हिन्दीमें इसी अर्थमें 'कर' या 'के' प्रत्यय होता है; जैसे—'रामने श्यामको बुलाकर [या बुलाके] धमकाया ।' इसमें यह नियम होता है कि पूर्वकालिक क्रिया और मुख्य क्रियाका कर्ता एक ही होता है; जैसे कि उपर्युक्त वाक्यमें पूर्वकालिक क्रिया 'बुलाकर' तथा मुख्य क्रिया 'धमकाया' इन दोनोंका कर्ता 'राम' ही है ।

ननु न युक्तं मृद्वच्चेत्कारणं ब्रह्म तदात्मकत्वात्कार्यस्य । कारणमेव हि कार्यात्मना परिणतमित्यतोऽप्रविष्ट इव कार्योत्पत्तेरूर्ध्वं पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशोऽनुपपन्नः । न हि घटपरिणामव्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशोऽस्ति । यथा घटे चूर्णात्मना मृदोऽनुप्रवेश एवमन्येनात्मना नामरूपकार्येऽनुप्रवेश आत्मन इति चेच्छ्रुत्यन्तराच्च "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छा० उ० ६ । ३ । २) इति ।

पूर्व०—यदि ब्रह्म मृत्तिकाके समान जगत्का कारण है तो उसका कार्य तद्रूप होनेके कारण उसमें उसका प्रवेश करना सम्भव नहीं है । क्योंकि कारण ही कार्यरूपसे परिणत हुआ करता है, अतः किसी अन्य पदार्थके समान पहले बिना प्रवेश किये कार्यकी उत्पत्तिके अनन्तर उसमें कारणका पुनः प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है ? घटरूपमें परिणत होनेके सिवा मृत्तिकाका घटमें और कोई प्रवेश नहीं हुआ करता । हाँ, जिस प्रकार घटमें चूर्ण (बालू) रूपसे मृत्तिकाका अनुप्रवेश होता है उसी प्रकार किसी अन्य रूपसे आत्माका नाम-रूप कार्यमें भी अनुप्रवेश हो सकता है; जैसा कि "इस जीवरूपसे अनुप्रवेश करके" इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है —यदि ऐसा मानें तो ?

नैवं युक्तमेकत्वाद्ब्रह्मणः । मृदात्मनस्त्वनेकत्वात्सावयवत्वाच्च युक्तो घटे मृदश्चूर्णात्मनानुप्रवेशः । मृदश्चूर्णस्याप्रविष्टदेशवत्त्वाच्च । न त्वात्मन एकत्वे

सिद्धान्ती—ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो एक ही है । मृत्तिकारूप कारण तो अनेक और सावयव होनेके कारण उसका घटमें चूर्णरूपसे अनुप्रवेश करना भी सम्भव है, क्योंकि मृत्तिकाके चूर्णका उस देशमें प्रवेश नहीं है; किन्तु आत्मा तो एक है, अतः उसके

इसी प्रकार 'अनुप्राविशत्' और 'सृष्ट्वा' इन दोनों क्रियाओंका कर्ता भी ब्रह्म ही होना चाहिये ।

सति निरवयवत्वाद्प्रविष्टदेशाभावाच्च प्रवेश उपपद्यते । कथं तर्हि प्रवेशः स्यात्। युक्तश्च प्रवेशः श्रुतत्वात्तदेवानुप्राविशदिति ।

निरवयव और उससे अप्रविष्ट देशका अभाव होनेके कारण उसका प्रवेश करना सम्भव नहीं है। तो फिर उसका प्रवेश कैसे होना चाहिये ? तथा उसका प्रवेश होना उचित ही है, क्योंकि 'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' ऐसी श्रुति है ।

सावयवमेवास्तु तर्हि । सावयवत्वान्मुखे हस्तप्रवेशवन्नामरूपकार्ये जीवात्मनानुप्रवेशो युक्त एवेति चेत् ?

पूर्व०—तब तो ब्रह्म सावयव ही होना चाहिये । उस अवस्थामें, सावयव होनेके कारण मुखमें हाथका प्रवेश होनेके समान उसका नाम-रूप कार्यमें जीवरूपसे प्रवेश होना ठीक ही होगा—यदि ऐसा कहें तो ?

नाशून्यदेशत्वात् । न हि कार्यात्मना परिणतस्य नामरूपकार्यदेशव्यतिरेकेणात्मशून्यः प्रदेशोऽस्ति यं प्रविशेज्जीवात्मना। कारणमेव चेत्प्रविशेज्जीवात्मत्वं जह्याद्यथा घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं जहाति । तदेवानुप्राविशदिति च श्रुतेर्न कारणानुप्रवेशो युक्तः ।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि उससे शून्य कोई देश नहीं है । कार्यरूपमें परिणत हुए ब्रह्मका नाम-रूप कार्यके देशसे अतिरिक्त और कोई अपनेसे शून्य देश नहीं है, जिसमें उसका जीवरूपसे प्रवेश करना सम्भव हो । और यदि यह मानो कि जीवात्माने कारणमें ही प्रवेश किया तब तो वह अपने जीवत्वको ही त्याग देगा, जिस प्रकार कि घड़ा मृत्तिकामें प्रवेश करनेपर अपना घटत्व त्याग देता है । तथा 'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' इस श्रुतिसे भी कारणमें अनुप्रवेश करना सम्भव नहीं है ।

कार्यान्तरमेव स्यादिति चेत् ? तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं कार्यं नामरूपपरिणतं कार्यान्तरमेवापद्यत इति चेत् ?

न; विरोधात्। न हि घटो घटान्तरमापद्यते। व्यतिरेकश्रुतिविरोधाच्च। जीवस्य नामरूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः श्रुतयो विरुध्येरन्। तदापत्तौ मोक्षासंभवाच्च। न हि यतो मुच्यमानस्तदेवापद्यते। न हि शृङ्खलापत्तिर्बद्धस्य तस्करादेः।

बाह्यान्तर्भेदेन परिणतमिति चेत्तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्याधारत्वेन तदन्तर्जीवात्मनाधेयत्वेन च परिणतमिति चेत् ?

पूर्व०—किसी अन्य कार्यमें ही प्रवेश किया—यदि ऐसा मानें तो ? अर्थात् 'तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिके अनुसार जीवात्मारूप कार्य नाम-रूपमें परिणत हुए किसी अन्य कार्यको ही प्राप्त हो जाता है—यदि ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे विरोध उपस्थित होता है। एक घड़ा किसी दूसरे घड़ेमें लीन नहीं हो जाता। इसके सिवा [ऐसा माननेसे] व्यतिरेक श्रुतिसे विरोध भी होता है। [यदि ऐसा मानेंगे तो] जीव नाम-रूपात्मक कार्यसे व्यतिरिक्त (भिन्न) है—ऐसा अनुवाद करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध हो जायगा और ऐसा होनेपर उसका मोक्ष होना भी असम्भव होगा। क्योंकि जो जिससे छूटनेवाला होता है वह उसीको प्राप्त नहीं हुआ करता;* जंजीरसे बँधे हुए चोर आदिका जंजीररूप हो जाना सम्भव नहीं है।

पूर्व०—वही बाह्य और आन्तरके भेदसे परिणत हो गया, अर्थात् वह कारणरूप ब्रह्म ही शरीरादि आधाररूपसे बाह्य और आधेय जीवरूपसे उसका अन्तर्वर्ती हो गया—यदि ऐसा मानें तो ?

* अर्थात् जीवको तो नाम-रूपात्मक कार्यसे मुक्त होना इष्ट है, फिर वह उसीको क्यों प्राप्त होगा ?

न; बहिःष्ठस्य प्रवेशोपपत्तेः। न हि यो यस्यान्तःस्थः स एव तत्प्रविष्ट उच्यते। बहिःष्ठस्यानुप्रवेशः स्यात्प्रवेशशब्दार्थस्यैवं दृष्टत्वात्। यथा गृहं कृत्वा प्राविशदिति।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो सकता है। जो जिसके भीतर स्थित है वह उसमें प्रविष्ट हुआ नहीं कहा जाता। अनुप्रवेश तो बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो सकता है, क्योंकि 'प्रवेश' शब्दका अर्थ ऐसा ही देखा गया है; जैसे कि 'घर बनाकर उसमें प्रवेश किया' इस वाक्यमें।

जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बवत्प्रवेशः स्यादिति चेन्न; अपरिच्छिन्नत्वादमूर्तत्वाच्च। परिच्छिन्नस्य मूर्तस्यान्यस्यान्यत्र प्रसादस्वभावके जलादौ सूर्यकादिप्रतिबिम्बोदयः स्यात्। न त्वात्मनः, अमूर्तत्वादाकाशादिकारणस्यात्मनो व्यापकत्वात्। तद्विप्रकृष्टदेशप्रतिबिम्बाधारवस्त्वन्तराभावाच्च प्रतिबिम्बवत्प्रवेशो न युक्तः।

यदि कहो कि जलमें सूर्यके प्रतिबिम्ब आदिके समान उसका प्रवेश हो सकता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अपरिच्छिन्न और अमूर्त है। परिच्छिन्न और मूर्तरूप अन्य पदार्थोंका ही स्वच्छस्वभाव जल आदि अन्य पदार्थोंमें सूर्यकादिरूप प्रतिबिम्ब पड़ा करता है; किन्तु आत्माका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि वह अमूर्त है तथा आकाशादिका कारणरूप आत्मा व्यापक भी है। उससे दूर देशमें स्थित प्रतिबिम्बकी आधारभूत अन्य वस्तुका अभाव होनेसे भी उसका प्रतिबिम्बके समान प्रवेश होना सम्भव नहीं है।

एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशो न च गत्यन्तरमुपलभामहे 'तदे-

पूर्व०—तब तो आत्माका प्रवेश होता ही नहीं—इसके सिवा 'तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिकी और

वानुप्राविशत्' इति श्रुतेः। श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम्। न चास्माद्वाक्याद्यत्नवतामपि विज्ञानमुत्पद्यते। हन्त तर्ह्यनर्थकत्वादपोह्यमेतद्वाक्यम् 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति।

न, अन्यार्थत्वात्। किमर्थमस्थाने चर्चा। प्रकृतो ह्यन्यो विवक्षितोऽस्य वाक्यस्यार्थोऽस्ति स स्मर्तव्यः। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० उ० २।१।१) इति तद्विज्ञानं च विवक्षितं प्रकृतं च तत्। ब्रह्मस्वरूपानुगमाय चाकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं प्रदर्शितं ब्रह्मानुगमश्चारब्धः। तत्रान्नमयादात्मनोऽन्योऽन्तर आत्मा प्राण-

कोई गति दिखायी नहीं देती। हमारे (मीमांसकोंके) सिद्धान्तानुसार इन्द्रियातीत विषयोंका ज्ञान होनेमें श्रुति ही कारण है। किन्तु इस वाक्यसे बहुत यत्न करनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः खेद है कि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह वाक्य अर्थशून्य होनेके कारण त्यागने ही योग्य है!

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस वाक्यका अर्थ अन्य ही है। इस प्रकार अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों करते हो? इस प्रसंगमें इस वाक्यको और ही अर्थ कहना अभीष्ट है। उसीको स्मरण करना चाहिये। "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" "जो उसे बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ जानता है" इत्यादि वाक्योंद्वारा जिसका निरूपण किया गया है उस ब्रह्मका ही विज्ञान यहाँ बतलाना अभीष्ट है और उसीका यहाँ प्रसङ्ग भी है। ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त सम्पूर्ण कार्यवर्ग दिखलाया गया है तथा ब्रह्मानुभवका प्रसङ्ग भी चल ही रहा है। उसमें अन्नमय आत्मासे भिन्न दूसरा अन्तरात्मा प्राणमय है,

मयस्तदन्तर्मनोमयो विज्ञानमय इति विज्ञानगुहायां प्रवेशितस्तत्र चानन्दमयो विशिष्ट आत्मा प्रदर्शितः ।

अतः परमानन्दमयलिङ्गाधिगमद्वारेणानन्दविवृद्ध्यवसान आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा सर्वविकल्पास्पदो निर्विकल्पोऽस्यामेव गुहायामधिगन्तव्य इति तत्प्रवेशः प्रकल्प्यते । न ह्यन्यत्रोपलभ्यते ब्रह्म निर्विशेषत्वात् । विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतुर्दृष्टः, यथा राहोश्चन्द्रार्कविशिष्टसंबन्धः । एवमन्तःकरणगुहात्मसंबन्धो ब्रह्मण उपलब्धिहेतुः । संनिकर्षादवभासात्मकत्वाच्चान्तःकरणस्य ।

उसका अन्तर्वर्ती मनोमय और फिर विज्ञानमय है । इस प्रकार आत्माको विज्ञानगुहामें प्रवेश करा दिया गया है, और वहाँ आनन्दमय ऐसे विशिष्ट आत्माको प्रदर्शित किया गया है ।

इसके आगे आनन्दमय—इस लिङ्गके ज्ञानद्वारा आनन्दके उत्कर्षका अवसानभूत आत्मा जो सम्पूर्ण विकल्पका आश्रयभूत एवं निर्विकल्प ब्रह्म है तथा [आनन्दमय कोशकी] पुच्छ प्रतिष्ठा है, वह इस गुहामें ही अनुभव किये जाने योग्य है—इसलिये उसके प्रवेशकी कल्पना की गयी है । निर्विशेष होनेके कारण ब्रह्म [बुद्धिरूप गुहाके सिवा] और कहीं उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि विशेषका सम्बन्ध ही उपलब्धिमें हेतु देखा गया है, जिस प्रकार कि राहुकी उपलब्धिमें चन्द्रमा अथवा सूर्यरूप विशेषका सम्बन्ध । इस प्रकार अन्तःकरणरूप गुहा और आत्माका सम्बन्ध ही ब्रह्मकी उपलब्धिका हेतु है, क्योंकि अन्तःकरण उसका समीपवर्ती और प्रकाशस्वरूप* है ।

* जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश दोनों ही जड हैं, तथापि प्रकाश अन्धकाररूप आवरणको दूर करनेमें समर्थ है, इसी प्रकार यद्यपि अज्ञान और अन्तःकरण दोनों ही समानरूपसे जड हैं तो भी प्रत्यय (विभिन्न प्रतीतियोंके) रूपमें परिणत हुआ अन्तःकरण अज्ञानका नाश करनेमें समर्थ है और इस प्रकार वह आत्माका प्रकाशक (ज्ञान करानेवाला) है । इसी बातको आगेके भाष्यसे स्पष्ट करते हैं ।

यथा चालोकविशिष्टा घटाद्युपलब्धिरेवं बुद्धिप्रत्ययालोकविशिष्टात्मोपलब्धिः स्यात्तस्मादुपलब्धिहेतौ गुहायां निहितमिति प्रकृतमेव । तद्वृत्तिस्थानीये त्विह पुनस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्युच्यते ।

जिस प्रकार कि प्रकाशयुक्त घटादिकी उपलब्धि होती है उसी प्रकार बुद्धिके प्रत्ययरूप प्रकाशसे युक्त आत्माका अनुभव होता है । अतः उपलब्धिकी हेतुभूत गुहामें वह निहित है—इसी बातका यह प्रसङ्ग है । उसकी वृत्ति (व्याख्या) के रूपमें ही श्रुतिद्वारा 'उसे रचकर वह पीछेसे उसीमें प्रवेश कर गया' ऐसा कहा गया है ।

तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां बुद्धौ द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञात्रित्येवं विशेषवदुपलभ्यते । स एव तस्य प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म । अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं तत् ।

इस प्रकार इस कार्यवर्गको रचकर इसमें अनुप्रविष्ट-सा हुआ आकाशादिका कारणरूप वह ब्रह्म ही बुद्धिरूप गुहामें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता—ऐसा सविशेषरूप-सा जान पड़ता है । यही उसका प्रवेश करना है । अतः वह ब्रह्म कारण है; इसलिये उसका अस्तित्व होनेके कारण उसे 'है' इस प्रकार ही ग्रहण करना चाहिये ।

तत्कार्यमनुप्रविश्य, किम् ?

तस्य सार्वात्म्यम् सच्च मूर्तं त्यच्चामूर्तमभवत् । मूर्तामूर्ते ह्यव्याकृतनामरूपे आत्मस्थे अन्तर्गतेनात्मना व्याक्रियेते व्याकृते मूर्तामूर्तशब्दवाच्ये । ते

उसने कार्यमें अनुप्रवेश करके फिर क्या किया ? वह सत्—मूर्त और असत्—अमूर्त हो गया । जिनके नाम और रूपकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, वे मूर्त्त और अमूर्त्त तो आत्मामें ही रहते हैं । उन 'मूर्त' एवं 'अमूर्त' शब्दवाच्य पदार्थोंको उनका अन्तर्वर्ती आत्मा केवल अभिव्यक्त कर देता है । उनके

आत्मना त्वप्रविभक्तदेशकाले इति कृत्वात्मा ते अभवदित्युच्यते ।

किं च निरुक्तं चानिरुक्तं च । निरुक्तं नाम निष्कृष्य समानासमानजातीयेभ्यो देशकालविशिष्टतयेदं तदित्युक्तमनिरुक्तं तद्विपरीतं निरुक्तानिरुक्ते अपि मूर्तामूर्तयोरेव विशेषणे । यथा सच्च त्यच्च प्रत्यक्षपरोक्षे, तथा निलयनं चानिलयनं च । निलयनं नीडमाश्रयो मूर्तस्यैव धर्मः । अनिलयनं तद्विपरीतममूर्तस्यैव धर्मः ।

त्यदनिरुक्तानिलयनान्यमूर्तधर्मत्वेऽपि व्याकृतविषयाण्येव । सर्गोत्तरकालभावश्रवणात् । त्यदिति प्राणाद्यनिरुक्तं तदेवानिलयनं च । अतो विशेषणान्य-

देश और काल आत्मासे अभिन्न हैं —इसीलिये 'आत्मा ही मूर्त और अमूर्त हुआ' ऐसा कहा जाता है ।

तथा वही निरुक्त और अनिरुक्त भी हुआ । निरुक्त उसे कहते हैं जिसे सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे अलग करके देश-कालविशिष्टरूपसे 'वह यह है' ऐसा कहा जाय । इससे विपरीत लक्षणोंवालेको 'अनिरुक्त' कहते हैं । निरुक्त और अनिरुक्त भी मूर्त और अमूर्तके ही विशेषण हैं । जिस प्रकार 'सत्' और 'त्यत्' क्रमशः 'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष' को कहते हैं उसी प्रकार 'निलयन' और 'अनिलयन' भी समझने चाहिये । निलयन—नीड अर्थात् आश्रय मूर्तका ही धर्म है और उससे विपरीत अनिलयन अमूर्तका ही धर्म है ।

त्यत्, अनिरुक्त और अनिलयन—ये अमूर्तके धर्म होनेपर भी व्याकृत (व्यक्त) से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं, क्योंकि इनकी सत्ता सृष्टिके अनन्तर ही सुनी गयी है । त्यत्—यह प्राणादि अनिरुक्तका नाम है; वही अनिलयन भी है । अतः ये

मूर्तस्य व्याकृतविषयाण्येवैतानि ।

विज्ञानं चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतनं पाषाणादि सत्यं च व्यवहारविषयमधिकारान्न परमार्थसत्यम् । एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म । इह पुनर्व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यम्, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते । अनृतं च तद्विपरीतम् । किं पुनः ? एतत्सर्वमभवत्, सत्यं परमार्थसत्यम् । किं पुनस्तत् ? ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति प्रकृतत्वात् ।

यस्मात्सत्त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत्किंचेदं सर्वमविशिष्टं विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माभवत्तद्व्यतिरेकेणाभावान्नामरूपविकारस्य, तस्मात्तद्ब्रह्म सत्यमित्याचक्षते ब्रह्मविदः ।

अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नः प्रकृतः तस्य प्रतिवचनविषय एतदुक्त-

अमूर्तके विशेषण व्याकृतविषयक ही हैं ।

विज्ञान यानी चेतन, अविज्ञान—उससे रहित अचेतन पाषाणादि और सत्य—व्यवहारसम्बन्धी सत्य, क्योंकि यहाँ व्यवहारका ही प्रसंग है, परमार्थ सत्य नहीं; परमार्थ सत्य तो एकमात्र ब्रह्म ही है; यहाँ तो केवल व्यवहारविषयक आपेक्षिक सत्यसे ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्यकी अपेक्षासे जल आदिको सत्य कहा जाता है तथा अनृत—उस (व्यावहारिक सत्य) से विपरीत । सो फिर क्या ? ये सब वह सत्य—परमार्थ सत्य ही हो गया । वह परमार्थ सत्य है क्या ? वह ब्रह्म है, क्योंकि 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त हैं' इस प्रकार उसीका प्रकरण है ।

क्योंकि सत्-त्यत् आदि जो कुछ मूर्त-अमूर्त धर्मजात है वह सामान्यरूपसे सारा ही विकार एकमात्र 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म ही हुआ है—क्योंकि उससे भिन्न नाम-रूप विकारका सर्वथा अभाव है—इसलिये ब्रह्मवादीलोग उस ब्रह्मको 'सत्य' ऐसा कहकर पुकारते हैं ।

'ब्रह्म है या नहीं' इस अनुप्रश्नका यहाँ प्रसंग था । उसके उत्तरमें यह

मात्माकामयत बहु स्यामिति । स यथाकामं चाकाशादिकार्यं सत्त्यदादिलक्षणं सृष्ट्वा तदनु प्रविश्य पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन् बह्वभवत्तस्मात्तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यस्थं परमे व्योमन् हृदयगुहायां निहितं तत्प्रत्ययावभासविशेषेणोपलभ्यमानमस्ति इत्येवं विजानीयादित्युक्तं भवति ।

तदेतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणोक्त एष श्लोको मन्त्रो भवति । यथा पूर्वेषु अन्नमयाद्यात्मप्रकाशकाः पञ्चस्वप्येवं सर्वान्तरतमात्मास्तित्वप्रकाशकोऽपि मन्त्रः कार्यद्वारेण भवति ॥ १ ॥

कहा गया था—'आत्माने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ' । वह अपनी कामनाके अनुसार सत् त्यत् आदि लक्षणोंवाले आकाशादि कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञातारूपसे बहुत हो गया । अतः आकाशादिके कारण, कार्यवर्गमें स्थित, परमाकाशके भीतर बुद्धिरूप गुहामें छिपे हुए और उसके कर्त्ता-भोक्तादिरूप जो प्रत्ययावभास हैं उनके द्वारा विशेषरूपसे उपलब्ध होनेवाले उस ब्रह्मको ही 'वह है' इस प्रकार जाने—ऐसा कहा गया ।

उस इस ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही यह श्लोक यानी मन्त्र है । जिस प्रकार पूर्वोक्त पाँच पर्यायोंमें अन्नमय आदि कोशोंके प्रकाशक श्लोक थे उसी प्रकार सबकी अपेक्षा आन्तरतम आत्माके अस्तित्वको उसके कार्यद्वारा प्रकाशित करनेवाला भी यह मन्त्र है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

ब्रह्मकी सुकृतता एवं आनन्दरूपताका तथा ब्रह्मवेत्ताकी अभयप्राप्तिका वर्णन

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानꣳस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति । यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

पहले यह [जगत्] असत् (अव्याकृत ब्रह्मरूप) ही था । उसीसे सत् (नाम-रूपात्मक व्यक्त) की उत्पत्ति हुई । उस असत्ने स्वयं अपनेको ही [नाम-रूपात्मक जगद्रूपसे] रचा । इसलिये वह सुकृत (स्वयं रचा हुआ) कहा जाता है । वह जो प्रसिद्ध सुकृत है सो निश्चय रस ही है । इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है । यदि हृदयाकाशमें स्थित यह आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता तो कौन व्यक्ति अपान-क्रिया करता और कौन प्राणन-क्रिया करता ? यही तो उन्हें आनन्दित करता है । जिस समय यह साधक इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्ममें अभय-स्थिति प्राप्त करता है उस

समय यह अभयको प्राप्त हो जाता है; और जब यह इसमें थोड़ा-सा भी भेद करता है तो इसे भय प्राप्त होता है। वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान्‌के लिये भयरूप है। इसी अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत्।

असच्छब्द-वाच्याव्याकृता-ज्जगदुत्पत्तिः

असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमव्याकृतं ब्रह्मोच्यते। न पुनरत्यन्तमेवासत्। न ह्यसतः सज्जन्मास्ति। इदमिति नामरूपविशेषवद्‌व्याकृतं जगदग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवासच्छब्दवाच्यमासीत्। ततोऽसतो वै सत्प्रविभक्तनामरूपविशेषमजायतोत्पन्नम्।

किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति पितुरिव पुत्रः, नेत्याह। तदसच्छब्दवाच्यं स्वयमेवात्मानमेवाकुरुत कृतवत्। यस्मादेवं तस्माद्ब्रह्मैव सुकृतं स्वयंकर्तृच्यते। स्वयंकर्तृ ब्रह्मेति प्रसिद्धं लोके सर्वकारणत्वात्।

पहले यह [जगत्] असत् ही था। 'असत्' इस शब्दसे, जिनके नाम-रूप व्यक्त हो गये हैं उन विशेष पदार्थोंसे विपरीत स्वभाववाला अव्याकृत ब्रह्म कहा जाता है। इससे [वन्ध्यापुत्रादि] अत्यन्त असत् पदार्थ बतलाये जाने अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि असत्‌से सत्‌का जन्म नहीं हो सकता। 'इदम्' अर्थात् नाम-रूप विशेषसे युक्त व्याकृत जगत् अग्रे—पहले अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व 'असत्' शब्दवाच्य ब्रह्म ही था। उस असत्‌से ही सत् यानी जिसके नाम-रूपका विभाग हो गया है उस विशेषकी उत्पत्ति हुई।

तो क्या पितासे पुत्रके समान यह कार्यवर्ग उस [ब्रह्मसे] विभिन्न है? इसपर श्रुति कहती है—'नहीं; उस 'असत्' शब्दवाच्य ब्रह्मने स्वयं अपनेको ही रचा। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये वह ब्रह्म ही सुकृत अर्थात् स्वयंकर्ता कहा जाता है, सबका कारण होनेसे ब्रह्म स्वयंकर्ता है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध है।

यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्वं सर्वात्मना तस्मात्पुण्यरूपेणापि तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतमुच्यते । सर्वथापि तु फलसंबन्धादिकारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं लोके । यदि पुण्यं यदि वान्यत्सा प्रसिद्धिर्नित्ये चेतनवत्कारणे सत्युपपद्यते । तस्मादस्ति तद्ब्रह्म सुकृतप्रसिद्धेः । इतश्चास्ति । कुतः ? रसत्वात् । कुतो रसत्वप्रसिद्धिर्ब्रह्मण इत्यत आह—

अथवा, क्योंकि सर्वरूप होनेसे ब्रह्मने स्वयं ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की रचना की है, इसलिये पुण्यरूपसे भी उसका कारणरूप वह ब्रह्म 'सुकृत' कहा जाता है। लोकमें जो कार्य [पुण्य अथवा पाप] किसी भी प्रकारसे फलके सम्बन्धादिका कारण होता है वही 'सुकृत' शब्दके वाच्यरूपसे प्रसिद्ध होता है । वह प्रसिद्धि चाहे पुण्यरूपा हो और चाहे पापरूपा किसी नित्य और सचेतन कारणके होनेपर ही हो सकती है । अतः उस सुकृतरूप प्रसिद्धिकी सत्ता होनेसे यह सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म है । ब्रह्म इसलिये भी है; किस लिये ? रसस्वरूप होनेके कारण । ब्रह्मकी रसस्वरूपताकी प्रसिद्धि किस कारणसे है—इसपर श्रुति कहती है—

यद्वै तत्सुकृतम् । रसो वै सः । (ब्रह्मणो रसस्वरूपत्वम्) रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके । रसमेवायं लब्ध्वा प्राप्यानन्दी सुखी भवति । नासत आनन्दहेतुत्वं दृष्टं लोके । बाह्यानन्दसाधनरहिता अप्यनीहा निरेषणा

जो भी वह प्रसिद्ध सुकृत है वह निश्चय रस ही है । खट्टा-मीठा आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद पदार्थ लोकमें 'रस' नामसे प्रसिद्ध है ही । इस रसको ही पाकर पुरुष आनन्दी अर्थात् सुखी हो जाता है । लोकमें किसी असत् पदार्थकी आनन्दहेतुता कभी नहीं देखी गयी । ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष विद्वान् बाह्यसुखके साधनसे रहित होनेपर

ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसः; नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम् । तस्मादस्ति तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म ।

इतश्चास्ति; कुतः ? प्राणनादिक्रियादर्शनात् । अयमपि हि पिण्डो जीवतः प्राणेन प्राणित्यपानेनापानिति । एवं वायवीया ऐन्द्रियकाश्च चेष्टाः संहतैः कार्यकरणैर्निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते । तच्चैकार्थवृत्तित्वेन संहननं नान्तरेण चेतनमसंहतं संभवति । अन्यत्रादर्शनात् ।

तदाह—यद्यदि एष आकाशे परमे व्योम्नि गुहायां निहित आनन्दो न स्यान्न भवेत्को ह्येव लोकेऽन्यादपानचेष्टां कुर्यादित्यर्थः । कः प्राण्यात्प्राणनं वा कुर्यात्तस्मादस्ति तद्ब्रह्म । यदर्थाः

भी बाह्य रसके लाभसे आनन्दित होनेके समान आनन्दयुक्त देखे जाते हैं । निश्चय उनका रस ब्रह्म ही है । अतः रसके समान उनके आनन्दका कारणरूप वह ब्रह्म है ही ।

इसलिये भी ब्रह्म है; किसलिये ? प्राणनादि क्रियाके देखे जानेसे । जीवित पुरुषका यह पिण्ड भी प्राणकी सहायतासे प्राणन करता है और अपान वायुके द्वारा अपानक्रिया करता है । इसी प्रकार संघातको प्राप्त हुए इन शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा निष्पन्न होती हुई और भी वायु और इन्द्रियसम्बन्धिनी चेष्टाएँ देखी जाती हैं । वह वायु आदि अचेतन पदार्थोंका एक ही उद्देश्यकी सिद्धिके लिये परस्पर संहत (अनुकूल) होना किसी असंहत (किसीसे भी न मिले हुए) चेतनके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि और कहीं ऐसा देखा नहीं जाता ।

इसी बातको श्रुति कहती है—यदि आकाश—परमाकाश अर्थात् बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ यह आनन्द न होता तो लोकमें कौन अपान-क्रिया करता और कौन प्राणन कर सकता; इसलिये वह ब्रह्म है ही, जिसके लिये कि शरीर

कार्यकरणप्राणनादिचेष्टास्तत्कृत एव चानन्दो लोकस्य ।

और इन्द्रियकी प्राणन आदि चेष्टाएँ हो रही हैं; और उसीका किया हुआ लोकका आनन्द भी है ।

कुतः ? एष ह्येव पर आत्मा आनन्दयात्यानन्दयति सुखयति लोकं धर्मानुरूपम् । स एवात्मानन्दरूपोऽविद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिरित्यर्थः । भयाभयहेतुत्वाद्विद्वदविदुषोरस्ति तद्ब्रह्म । सद्वस्त्वाश्रयणेन ह्यभयं भवति । नासद्वस्त्वाश्रयणेन भयनिवृत्तिरुपपद्यते ।

ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह परमात्मा ही लोकको उसके धर्मानुसार आनन्दित—सुखी करता है । तात्पर्य यह है कि वह आनन्दरूप आत्मा ही प्राणियोंद्वारा अविद्यासे परिच्छिन्न भावना किया जाता है । अविद्वान्के भय और विद्वान्के अभयका कारण होनेसे भी ब्रह्म है, क्योंकि किसी सत्य पदार्थके आश्रयसे ही अभय हुआ करता है, असद्वस्तुके आश्रयसे भयकी निवृत्ति होनी सम्भव नहीं है ।

कथमभयहेतुत्वमित्युच्यते—

ब्रह्मणोऽभयहेतुत्वम्

यदा ह्येव यस्मादेष साधक एतस्मिन्ब्रह्मणि किंविशिष्टेऽदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारो दर्शनार्थत्वाद्विकारस्य । न दृश्यमदृश्यमविकार इत्यर्थः । एतस्मिन्नदृश्येऽविकारेऽविषयभूते अनात्म्येऽशरीरे । यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्यं

ब्रह्मका अभयहेतुत्व किस प्रकार है, सो बतलाया जाता है—क्योंकि जिस समय भी यह साधक इस ब्रह्ममें [प्रतिष्ठा—स्थिति अर्थात् आत्मभाव प्राप्त कर लेता है ।] किन विशेषणोंसे युक्त ब्रह्ममें ? अदृश्यमें—दृश्य देखे जानेवाले अर्थात् विकारका नाम है क्योंकि विकार देखे जानेके ही लिये है; जो दृश्य न हो उसे अदृश्य अर्थात् अविकार कहते हैं । इस अदृश्य—अविकारी अर्थात् अविषयभूत, अनात्म्य—अशरीरमें । क्योंकि वह अदृश्य है इसलिये अशरीर भी है और क्योंकि

यस्माद्नात्म्यं तस्माद्निरुक्तम् । विशेषो हि निरुच्यते विशेषश्च विकारः । अविकारं च ब्रह्म, सर्वविकारहेतुत्वात्तस्माद्निरुक्तम् । यत एवं तस्माद्निलयनं निलयनं नीड आश्रयो न निलयनमनिलयनमनाधारं तस्मिन्नेतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणीति वाक्यार्थः । अभयमिति क्रियाविशेषणम् । अभयामिति वा लिङ्गान्तरं परिणम्यते । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मभावं विन्दते लभते । अथ तदा स तस्मिन्नानात्वस्य भयहेतोरविद्याकृतस्यादर्शनाद्भयं गतो भवति ।

अशरीर है इसलिये अनिरुक्त है। निरूपण विशेषका ही किया जाता है और विशेष विकार ही होता है; किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण विकारका कारण होनेसे स्वयं अविकार ही है, इसलिये वह अनिरुक्त है । क्योंकि ऐसा है इसलिये वह अनिलयन है; निलयन आश्रयको कहते हैं; जिसका निलयन न हो वह अनिलयन यानी अनाश्रय है । उस इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त और अनिलयन अर्थात् सम्पूर्ण कार्यधर्मोंसे विलक्षण ब्रह्ममें अभय प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आत्मभावको प्राप्त करता है । उस समय उसमें भयके हेतुभूत नानात्वको न देखनेके कारण अभयको प्राप्त हो जाता है । मूलमें 'अभयम्' यह क्रियाविशेषण है* अथवा इसे 'अभयाम्' इस प्रकार अन्य (स्त्री) लिङ्गके रूपमें परिणत कर लेना चाहिये ।

स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा भवति तदा नान्यत्पश्यति ना-

जिस समय यह अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है उस समय यह

* अर्थात् अभयरूपसे प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आत्मभाव प्राप्त कर लेता है ।

न्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति। अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति नात्मन एवात्मनो भयं युक्तम्। तस्मादात्मैवात्मनोऽभयकारणम्। सर्वतो हि निर्भया ब्राह्मणा दृश्यन्ते सत्सु भयहेतुषु तच्चायुक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि। तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तदभयकारणं ब्रह्मेति।

न तो और कुछ देखता है, न और कुछ सुनता है और न और कुछ जानता ही है। अन्यको ही अन्यसे भय हुआ करता है, आत्मासे आत्माको भय होना सम्भव नहीं है। अतः आत्मा ही आत्माके अभयका कारण है। ब्राह्मण लोग (ब्रह्मनिष्ठ पुरुष) भयके कारणोंके रहते हुए भी सब ओरसे निर्भय दिखायी देते हैं। किन्तु भयसे रक्षा करनेवाले ब्रह्मके न होनेपर ऐसा होना असम्भव था। अतः उन्हें निर्भय देखनेसे यह सिद्ध होता है कि अभयका हेतुभूत ब्रह्म है ही।

कदासावभयं गतो भवति साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः। यदा पुनरविद्यावस्थायां हि यस्मादेषोऽविद्यावानविद्यया प्रत्युपस्थापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीयचन्द्रवत्पश्यत्यात्मनि चैतस्मिन् ब्रह्मणि उदपि, अरमल्पमप्यन्तरं छिद्रं भेददर्शनं कुरुते। भेददर्शन-

भेददर्शनमेव भयहेतुः

यह साधक कब अभयको प्राप्त होता है? [ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—] जिस समय यह अन्य कुछ नहीं देखता और अपने आत्मामें किसी प्रकारका अन्तर—भेद नहीं करता उस समय ही यह अभयको प्राप्त होता है—यह इसका तात्पर्य है। किन्तु जिस समय अविद्यावस्थामें यह अविद्याग्रस्त जीव तिमिररोगीको दिखायी देनेवाले दूसरे चन्द्रमाके समान अविद्याद्वारा प्रस्तुत किये हुए पदार्थोंको देखता है तथा इस आत्मा यानी ब्रह्ममें थोड़ा-सा भी अन्तर—छिद्र अर्थात् भेददर्शन करता है—

मेव हि भयकारणमल्पमपि भेदं पश्यतीत्यर्थः। अथ तस्माद्भेददर्शनाद्धेतोरस्य भेददर्शिन आत्मनो भयं भवति । तस्मादात्मैवात्मनो भयकारणमविदुषः ।

भेददर्शन ही भयका कारण है, अतः तात्पर्य यह है कि यदि यह थोड़ा-सा भी भेद देखता है—तो उस आत्माके भेददर्शनरूप कारणसे उसे भय होता है । अतः अज्ञानीके लिये आत्मा ही आत्माके भयका कारण है ।

तदेतदाह । तद्ब्रह्म त्वेव भयं भेददर्शिनो विदुष ईश्वरोऽन्यो मत्तोऽहमन्यः संसारी इत्येवं विदुषो भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव ब्रह्माल्पमप्यन्तरं कुर्वतो भयं भवत्येकत्वेनामन्वानस्य । तस्माद्विद्वानप्यविद्वानेवासौ योऽयमेकमभिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यति ।

यहाँ श्रुति इसी बातको कहती है—भेददर्शी विद्वान्के लिये वह ब्रह्म ही भयरूप है । मुझसे भिन्न ईश्वर और है तथा मैं संसारी जीव और हूँ इस प्रकार उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर करनेवाले उसे एकरूपसे न माननेवाले विद्वान् (भेदज्ञानी) के लिये वह भेदरूपसे देखा गया ईश्वरसंज्ञक ब्रह्म ही भयरूप हो जाता है । अतः जो पुरुष एक अभिन्न आत्मतत्त्वको नहीं देखता वह विद्वान् होनेपर भी अविद्वान् ही है ।

उच्छेदहेतुदर्शनाद्ध्युच्छेद्याभिमतस्य भयं भवति । अनुच्छेद्यो ह्युच्छेदहेतुस्तत्रासत्युच्छेदहेतावुच्छेद्ये न तद्दर्शनकार्यं भयं

अपनेको उच्छेद्य (नाशवान्) माननेवालेको ही उच्छेदका कारण देखनेसे भय हुआ करता है । उच्छेदका कारण तो अनुच्छेद्य (अविनाशी) ही होता है । अतः यदि कोई उच्छेदका कारण न होता तो उच्छेद्य पदार्थोंमें उसके देखनेसे

युक्तम् । सर्वं च जगद्भयवद्दृश्यते । तस्माज्जगतो भयदर्शनाद्गम्यते नूनं तदस्ति भयकारणमुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकं यतो जगद्बिभेतीति । तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति ॥ १ ॥

होनेवाला भय सम्भव नहीं था। किन्तु सारा ही संसार भययुक्त देखा जाता है। अतः जगत्को भय होता देखनेसे जाना जाता है कि उसके भयका कारण उच्छेदका हेतुभूत किन्तु स्वयं अनुच्छेद्यरूप ब्रह्म है, जिससे कि जगत् भय मानता है। इसी अर्थमें यह श्लोक भी है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ब्रह्मानन्दके निरतिशयत्वकी मीमांसा

भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति । सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥ १ ॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥ २ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवा-

नामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥ ३ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ४ ॥

इसके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है तथा इसीके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । अब यह [इस ब्रह्मके] आनन्दकी मीमांसा है—साधु स्वभाववाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान् [कभी निराश न होनेवाला] तथा अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसीकी यह धन-धान्यसे पूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी हो । [उसका जो आनन्द है] वह एक मानुष आनन्द है; ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं ॥१॥ वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है तथा वह अकामहत (जो कामनासे पीड़ित नहीं है उस) श्रोत्रियको भी प्राप्त है । मनुष्य-गन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं वही देवगन्धर्वका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । देवगन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं वही नित्यलोकमें रहनेवाले पितृगणका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । चिरलोक-निवासी पितृगणके जो सौ आनन्द हैं वही आजानज देवताओंका एक आनन्द है ॥ २ ॥ और वह अकामहत श्रोत्रियोंको भी प्राप्त है । आजानज देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव देवताओंका, जो कि [अग्निहोत्रादि] कर्म करके देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है और

वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । कर्मदेव देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही देवताओंका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्रका एक आनन्द है ॥ ३ ॥ तथा वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । इन्द्रके जो सौ आनन्द हैं वही बृहस्पतिका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । बृहस्पतिके जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापतिका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्माका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है ॥ ४ ॥

भीषा भयेनास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च

ब्रह्मानुशासनम्

मृत्युर्धावति पञ्चम इति । वातादयो हि महार्हाः स्वयमीश्वराः सन्तः पवनादिकार्येष्वायासबहुलेषु नियताः प्रवर्तन्ते । तद्युक्तं प्रशास्तरि सति; यस्मान्नियमेन तेषां प्रवर्तनम् । तस्मादस्ति भयकारणं तेषां प्रशास्तृ ब्रह्म । यतस्ते भृत्या इव राज्ञोऽस्माद्ब्रह्मणो भयेन प्रवर्तन्ते । तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म ।

इसकी भीति अर्थात् भयसे वायु चलता है, इसीकी भीतिसे सूर्य उदित होता है और इसके भयसे ही अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवाँ[1] मृत्यु दौड़ता है । वायु आदि देवगण परमपूजनीय और स्वयं समर्थ होनेपर भी अत्यन्त श्रमसाध्य चलने आदिके कार्यमें नियमानुसार प्रवृत्त हो रहे हैं । यह बात उनका कोई शासक होनेपर ही सम्भव है । क्योंकि उनकी नियमसे प्रवृत्ति होती है इसलिये उनके भयका कारण और उनपर शासन करनेवाला ब्रह्म है । जिस प्रकार राजाके भयसे सेवक लोग अपने-अपने कामोंमें लगे रहते हैं उसी प्रकार वे इस ब्रह्मके भयसे प्रवृत्त होते हैं, वह उनके भयका कारण ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ।

---

१. पूर्वोक्त वायु आदिके क्रमसे गणना किये जानेपर पाँचवाँ होनेके कारण मृत्युको पाँचवाँ कहा है ।

तस्यास्य ब्रह्मण आनन्दस्यैषा मीमांसा विचारणा भवति । किमानन्दस्य मीमांस्यमित्युच्यते । किमानन्दो विषयविषयिसंबन्धजनितो लौकिकानन्दवदाहोस्वित् स्वाभाविक इत्येवमेषानन्दस्य मीमांसा ।

ब्रह्मानन्दालोचनम्

तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त उत्कृष्टः । स य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम् । अनेन हि प्रसिद्धेनानन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते ।

लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्रा अविद्यया तिरस्क्रियमाणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशाद्यथाविज्ञानं विषयादिसाधनसंबन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च लोकेऽनवस्थितो लौकिकः संप-

उस इस ब्रह्मके आनन्दकी यह मीमांसा—विचारणा है । उस आनन्दकी क्या बात विचारणीय है, इसपर कहते हैं—'क्या वह आनन्द लौकिक सुखकी भाँति विषय और विषयको ग्रहण करनेवालेके सम्बन्धसे होनेवाला है अथवा स्वाभाविक ही है ?' इस प्रकार यही उस आनन्दकी मीमांसा है ।

उसमें जो लौकिक आनन्द बाह्य और शारीरिक साधन-सम्पत्तिके कारण उत्कृष्ट गिना जाता है ब्रह्मानन्दके ज्ञानके लिये यहाँ उसीका निर्देश किया जाता है । इस प्रसिद्ध आनन्दके द्वारा ही जिसकी बुद्धि विषयोंसे हटी हुई है उस ब्रह्मवेत्ताको अनुभव होनेवाले आनन्दका ज्ञान हो सकता है ।

लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्दका ही अंश है । अविद्यासे विज्ञानके तिरस्कृत हो जानेपर और अविद्याका उत्कर्ष होनेपर प्राक्तन कर्मवश विषयादि साधनोंके सम्बन्धसे ब्रह्मा आदि जीवोंद्वारा अपने-अपने विज्ञानानुसार भावना किया जानेके कारण ही वह लोकमें अस्थिर और लौकिक

द्यते । स एवाविद्याकामकर्मापकर्षेण मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तरभूमिष्वकामहतविद्वच्छ्रोत्रियप्रत्यक्षो विभाव्यते शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्षेण यावद्धिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण आनन्द इति । निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽद्वैतो भवतीत्येतमर्थं विभावयिष्यन्नाह ।

आनन्द हो जाता है । कामनाओंसे पराभूत न होनेवाले विद्वान् श्रोत्रियको प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला वह ब्रह्मानन्द ही मनुष्य-गन्धर्व आदि आगे-आगेकी भूमियोंमें हिरण्यगर्भपर्यन्त अविद्या, कामना और कर्मका ह्रास होनेसे उत्तरोत्तर सौ-सौ गुने उत्कर्षसे आविर्भूत होता है । तथा विद्याद्वारा अविद्याजनित विषय-विषयिविभागके निवृत्त हो जानेपर वह स्वाभाविक परिपूर्ण एक और अद्वैत आनन्द हो जाता है—इसी अर्थको समझानेके लिये श्रुति कहती है—

युवा प्रथमवयाः । साधुयुवेति साधुश्चासौ युवा चेति यूनो विशेषणम् । युवाप्यसाधुर्भवति साधुरप्ययुवातो विशेषणं युवा स्यात्साधुयुवेति । अध्यायकोऽधीतवेदः । आशिष्ठ आशास्तृतमः । दृढिष्ठो दृढतमः । बलिष्ठो बलवत्तमः । एवमाध्यात्मिकसाधनसंपन्नः । तस्येयं पृथिव्युर्वी

जो युवा अर्थात् पूर्ववयस्क, साधुयुवा अर्थात् जो साधु भी हो और युवा भी—इस प्रकार साधुयुवा शब्द 'युवा' का विशेषण है; लोकमें युवा भी असाधु हो सकता है और साधु भी अयुवा हो सकता है, इसीलिये 'जो युवा हो—साधुयुवा हो' इस प्रकार विशेषणरूपसे कहा है । तथा अध्यायक—वेद पढ़ा हुआ, आशिष्ठः—अत्यन्त आशावान्, दृढिष्ठः—अत्यन्त दृढ और बलिष्ठ—अति बलवान् हो; इस प्रकार जो इन आध्यात्मिक साधनोंसे सम्पन्न हो; और उसीकी, यह धनसे अर्थात्

सर्वा वित्तस्य वित्तेनोपभोगसाधनेन दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्मसाधनेन संपन्ना पूर्णा राजा पृथिवीपतिरित्यर्थः । तस्य च य आनन्दः स एको मानुषो मनुष्याणां प्रकृष्ट एक आनन्दः ।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। मानुषानन्दाच्छतगुणेनोत्कृष्टो मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दो भवति । मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषाद्गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः । ते ह्यन्तर्धानादिशक्तिसंपन्नाः सूक्ष्मकार्यकरणाः । तस्मात्प्रतिघाताल्पत्वं तेषां द्वन्द्वप्रतिघातशक्तिसाधनसंपत्तिश्च । ततोऽप्रतिहन्यमानस्य प्रतीकारवतो मनुष्यगन्धर्वस्य स्याच्चित्तप्रसादः। तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभि-

उपभोगके साधनसे तथा लौकिक और पारलौकिक कर्मके साधनसे सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी हो—अर्थात् जो राजा यानी पृथिवीपति हो; उसका जो आनन्द है वह एक मानुष आनन्द यानी मनुष्योंका एक प्रकृष्ट आनन्द है ।

ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है । मानुष आनन्दसे मनुष्यगन्धर्वोंका आनन्द सौ गुना उत्कृष्ट होता है । जो पहले मनुष्य होकर फिर कर्म और उपासनाकी विशेषतासे गन्धर्वत्वको प्राप्त हुए हैं वे मनुष्य-गन्धर्व कहलाते हैं । वे अन्तर्धानादिकी शक्तिसे सम्पन्न तथा सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियोंसे युक्त होते हैं, इसलिये उन्हें [शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका] थोड़ा प्रतिघात होता है तथा वे द्वन्द्वोंका सामना करनेवाले सामर्थ्य और साधनसे सम्पन्न होते हैं । अतः उस शीतोष्णादि द्वन्द्वसे प्रतिहत न होनेवाले तथा [उसका आघात होनेपर] उसका प्रतीकार करनेमें समर्थ मनुष्यगन्धर्वको चित्त-प्रसाद प्राप्त होता है और उस प्रसादविशेषसे उसके सुखविशेषकी

व्यक्तिः । एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या भूमेरुत्तरस्यामुत्तरस्यां भूमौ प्रसादविशेषतः शतगुणेनानन्दोत्कर्ष उपपद्यते ।

प्रथमं त्वकामहताग्रहणं मनुष्यविषयभोगकामानभिहतस्य श्रोत्रियस्य मनुष्यानन्दाच्छतगुणेनानन्दोत्कर्षो मनुष्यगन्धर्वेण तुल्यो वक्तव्य इत्येवमर्थम् । साधुयुवाध्यायक इति श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे गृह्येते । ते ह्यविशिष्टे सर्वत्र । अकामहतत्वं तु विषयोत्कर्षापकर्षतः सुखोत्कर्षापकर्षाय विशेष्यते । अतोऽकामहतग्रहणम्, तद्विशेषतः शतगुण-

अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व भूमिकी अपेक्षा आगे-आगेकी भूमिमें प्रसादकी विशेषता होनेसे सौ-सौ गुने आनन्दका उत्कर्ष होना सम्भव ही है ।

[आगेके सब वाक्योंके साथ रहनेवाला] 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' यह वाक्य पहले [मानुष आनन्दके साथ] इसलिये ग्रहण नहीं किया गया कि विषय-भोग और कामनाओंसे व्याकुल न रहनेवाले श्रोत्रियके आनन्दका उत्कर्ष मानुष आनन्दकी अपेक्षा सौ गुना अर्थात् मनुष्यगन्धर्वके आनन्दके तुल्य बतलाना है । श्रुतिमें 'साधुयुवा' और 'अध्यायक' ये दो विशेषण [सार्वभौम राजाका] श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व प्रदर्शित करनेके लिये ग्रहण किये जाते हैं । इन्हें आगे भी सबके साथ समानभावसे समझना चाहिये । विषयके उत्कर्ष और अपकर्षसे सुखका भी उत्कर्ष और अपकर्ष होता है [किन्तु कामनारहित पुरुषके लिये सुखका उत्कर्ष या अपकर्ष हुआ नहीं करता] इसीलिये अकामहतत्वकी विशेषता है । और इसीसे 'अकामहत' पद ग्रहण किया गया है । अतः उससे विशिष्ट पुरुषके

सुखोत्कर्षोपलब्धेरकामहतत्वस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधानार्थम् । व्याख्यातमन्यत् ।

देवगन्धर्वा जातित एव । चिरलोकलोकानामिति पितॄणां विशेषणम् । चिरकालस्थायी लोको येषां पितॄणां ते चिरलोकलोका इति । आजान इति देवलोकस्तस्मिन्नाजाने जाता आजानजा देवाः स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जाताः ।

कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणाग्निहोत्रादिना केवलेन देवानपियन्ति । देवा इति त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजः । इन्द्रस्तेषां स्वामी तस्याचार्यो बृहस्पतिः । प्रजापतिर्विराट् । त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलव्यापी ।

यत्रैत आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तो ज्ञानं

सुखका सौगुना उत्कर्ष देखा जाता है; अतः अकामहतत्वको परमानन्दकी प्राप्तिका साधन बतलानेके लिये 'अकामहत' विशेषण ग्रहण किया है । और सबकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ।

देवगन्धर्व—जो जन्मसे ही गन्धर्व हों 'चिरलोकलोकानाम्' (चिरस्थायी लोकमें रहनेवाले) यह पितृगणका विशेषण है । जिन पितृगणका चिरस्थायी लोक है वे चिरलोकलोक कहे जाते हैं । 'आजान' देवलोकका नाम है, उस आजानमें जो उत्पन्न हुए हैं वे देवगण 'आजानज' हैं, जो कि स्मार्त्त कर्मविशेषके कारण देवस्थानमें उत्पन्न हुए हैं ।

जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मसे देवभावको प्राप्त हुए हैं वे 'कर्मदेव' कहलाते हैं । जो तैंतीस देवगण यज्ञमें हविर्भाग लेनेवाले हैं वे ही यहाँ 'देव' शब्दसे कहे गये हैं । उनका स्वामी इन्द्र है और इन्द्रका गुरु बृहस्पति है । 'प्रजापति' का अर्थ विराट् है, तथा त्रैलोक्यशरीरधारी ब्रह्मा है जो समष्टि-व्यष्टिरूप और समस्त संसारमण्डलमें व्याप्त है ।

जहाँ ये आनन्दके भेद एकताको प्राप्त होते हैं [अर्थात् एक ही गिने जाते हैं] तथा जहाँ

च तद्विषयमकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, तस्यैष आनन्दः श्रोत्रियेणावृजिनेनाकामहतेन च सर्वतः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । तस्मादेतानि त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते । तत्र श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे नियते अकामहतत्वं तूत्कृष्यत इति प्रकृष्टसाधनतावगम्यते ।

उससे होनेवाले धर्म एवं ज्ञान तथा तद्विषयक अकामहतत्व सबसे बढ़े हुए हैं वह यह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मा है । उसका यह आनन्द श्रोत्रिय, निष्पाप और अकामहत पुरुषद्वारा सर्वत्र प्रत्यक्ष उपलब्ध किया जाता है । इससे यह जाना जाता है कि [निष्पापत्व, अकामहतत्व और श्रोत्रियत्व] ये तीन उसके साधन हैं । इनमें श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व तो नियत (न्यूनाधिक न होनेवाले) धर्म हैं किन्तु अकामहतत्वका उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है; इसलिये यह प्रकृष्ट-साधनरूपसे जाना जाता है ।

तस्याकामहतत्वप्रकर्षतश्चोपलभ्यमानः श्रोत्रियप्रत्यक्षो ब्रह्मण आनन्दो यस्य परमानन्दस्य मात्रैकदेशः । "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुत्यन्तरात् । स एष आनन्दो यस्य मात्राः समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां

उस अकामहतत्वके प्रकर्षसे उपलब्ध होनेवाला तथा श्रोत्रियको प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला वह ब्रह्माका आनन्द जिस परमानन्दकी मात्रा अर्थात् केवल एकदेशमात्र है, जैसा कि "इस आनन्दके लेशसे ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है, वह यह हिरण्यगर्भका आनन्द, जिसकी मात्राएँ (लेशमात्र आनन्द) समुद्रके जलकी बूँदोंके समान विभक्त हो पुनः उसमें एकत्वको

गताः स एष परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दिनोश्चाविभागोऽत्र ॥१-४॥

प्राप्त हुई हैं वही अद्वैतरूप होनेसे स्वाभाविक परमानन्द है। इसमें आनन्द और आनन्दीका अभेद है ॥ १-४ ॥

ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिका उपसंहार

तदेतन्मीमांसाफलमुपसंह्रियते—

अब इस मीमांसाके फलका उपसंहार किया जाता है—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति ॥ ५ ॥

वह, जो कि इस पुरुष (पञ्चकोशात्मक देह) में है और जो यह आदित्यके अन्तर्गत है, एक है। वह, जो इस प्रकार जाननेवाला है, इस लोक (दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूह) से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है [अर्थात् विषयसमूहको अन्नमय कोशसे पृथक् नहीं देखता]। इसी प्रकार वह इस प्राणमय आत्माको प्राप्त होता है, इस मनोमय आत्माको प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्माको प्राप्त होता है एवं इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। उसीके विषयमें यह श्लोक है ॥ ५ ॥

ब्रह्मात्मैक्योपसंहारः

यो गुहायां निहितः परमे व्योम्न्याकाशादिकार्यं सृष्ट्वान्नमया-

जो आकाशसे लेकर अन्नमय कोशपर्यन्त कार्यकी रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट हुआ परमाकाशके भीतर बुद्धिरूप गुहामें स्थित है

न्तं तदेवानुप्रविष्टः स य इति निर्दिश्यते। कोऽसौ ? अयं पुरुषे, यश्चासावादित्ये यः परमानन्दः श्रोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टो यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि सुखार्हाण्युपजीवन्ति स यश्चासावादित्य इति निर्दिश्यते। स एको भिन्नप्रदेशस्थघटाकाशैकत्ववत् ।

उसीका 'स यः' (वह जो) इन पदोंद्वारा निर्देश किया जाता है। वह कौन है ? जो इस पुरुषमें है और जो श्रोत्रियके लिये प्रत्यक्ष बतलाया हुआ परमानन्द आदित्यमें है; जिसके एक देशके आश्रयसे ही सुखके पात्रीभूत ब्रह्मा आदि जीव जीवन धारण करते हैं उसी आनन्दको 'स यश्चासावादित्ये' इन पदोंद्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। भिन्न-प्रदेशस्थ घटाकाश और महाकाशके एकत्वके समान [उन दोनों उपाधियोंमें स्थित] वह आनन्द एक है।

ननु तन्निर्देशे स यश्चायं पुरुष इत्यविशेषतोऽध्यात्मं न युक्तो निर्देशः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्निति तु युक्तः, प्रसिद्धत्वात् ।

शंका—किन्तु उस आनन्दका निर्देश करनेमें 'वह जो इस पुरुषमें है' इस प्रकार सामान्यरूपसे अध्यात्म पुरुषका निर्देश करना उचित नहीं है, बल्कि 'जो इस दक्षिण नेत्रमें है' इस प्रकार कहना ही उचित है, क्योंकि ऐसा ही प्रसिद्ध है।

न, पराधिकारात् । परो ह्यात्मात्राधिकृतोऽदृश्येऽनात्म्ये भीषास्माद्वातः पवते सैषानन्दस्य मीमांसेति। न ह्यकस्मादप्रकृतो

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँपर आत्माका अधिकरण है। 'अदृश्येऽनात्म्ये' 'भीषास्माद्वातः पवते' तथा 'सैषानन्दस्य मीमांसा' आदि वाक्योंके अनुसार यहाँ परमात्माका ही प्रकरण है। अतः जिसका कोई प्रसङ्ग नहीं है उस [दक्षिणनेत्रस्थ

युक्तो निर्देष्टुम् । परमात्मविज्ञानं च विवक्षितम् । तस्मात्पर एव निर्दिश्यते 'स एकः' इति ।

पुरुष] का अकस्मात् निर्देश करना उचित नहीं है । यहाँ परमात्माका विज्ञान वर्णन करना ही अभीष्ट है; इसलिये 'वह एक है' इस वाक्यसे परमात्माका ही निर्देश किया जाता है ।

नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम् । अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव न विषयविषयिसंबन्धजनित इति ।

शंका—यहाँ तो आनन्दकी मीमांसाका प्रकरण है, इसलिये उसके फलका उपसंहार भी करना ही चाहिये, क्योंकि अखण्ड और स्वाभाविक आनन्द परमात्मा ही है, वह विषय और विषयीके सम्बन्धसे होनेवाला आनन्द नहीं है ।

ननु तदनुरूप एवायं निर्देशः 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति भिन्नाधिकरणस्थविशेषोपमर्देन ।

मध्यस्थ—'जो आनन्द इस पुरुषमें है और जो इस आदित्यमें है वह एक है' इस प्रकार भिन्न आश्रयोंमें स्थित विशेषका निराकरण करके जो निर्देश किया गया है वह तो इस प्रसंगके अनुरूप ही है ।

नन्वेवमप्यादित्यविशेषग्रहणमनर्थकम् ।

शंका—किन्तु, इस प्रकार भी 'आदित्य' इस विशेष पदार्थका ग्रहण करना व्यर्थ ही है ।

नानर्थकम्, उत्कर्षापकर्षापोहार्थत्वात् । द्वैतस्य हि मूर्तामूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवित्रभ्यन्तर्गतः स चेत्पुरुषगत-

समाधान—उत्कर्ष और अपकर्षका निषेध करनेके लिये होनेके कारण यह व्यर्थ नहीं है । मूर्त और अमूर्तरूप द्वैतका परम उत्कर्ष सूर्यके अन्तर्गत है; वह यदि पुरुषगत विशेषके बाध-

विशेषोपमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य समो भवति न कश्चिदुत्कर्षोऽपकर्षो वा तां गतिं गतस्येत्यभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्युपपन्नम् ।

द्वितीयानुप्रश्न-विचारः अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नो व्याख्यातः । कार्यरसलाभप्राणनाभयप्रतिष्ठाभयदर्शनोपपत्तिभ्योऽस्त्येव तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपाकृतोऽनुप्रश्न एकः । द्वावन्यावनुप्रश्नौ विद्वदविदुषोर्ब्रह्मप्राप्त्यप्राप्तिविषयौ तत्र विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इत्यनुप्रश्नोऽन्त्यस्तदपाकरणायोच्यते । मध्यमोऽनुप्रश्नोऽन्त्यापाकरणादेवापाकृत इति तदपाकरणाय न यत्यते ।

स यः कश्चिदेवं यथोक्तं ब्रह्म उत्सृज्योत्कर्षापकर्षमद्वैतं सत्यं ज्ञानमनन्तमस्मीत्येवं वेत्ती-

द्वारा परमानन्दकी अपेक्षा उसके तुल्य ही सिद्ध होता है तो उस गतिको प्राप्त हुए पुरुषका कोई उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं रहता और वह निर्भय स्थितिको प्राप्त कर लेता है; अतः यह कथन उचित ही है।

ब्रह्म है या नहीं—इस अनुप्रश्नकी व्याख्या कर दी गयी। कार्यरूप रसकी प्राप्ति, प्राणन, अभय-प्रतिष्ठा और भयदर्शन आदि युक्तियोंसे वह आकाशादिका कारणरूप ब्रह्म है ही—इस प्रकार एक अनुप्रश्नका निराकरण किया गया। दूसरे दो अनुप्रश्न विद्वान् और अविद्वान्की ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मकी अप्राप्तिके विषयमें हैं। उनमें अन्तिम अनुप्रश्न यही है कि 'विद्वान् ब्रह्मको प्राप्त होता है या नहीं?' उसका निराकरण करनेके लिये कहा जाता है। मध्यम अनुप्रश्नका निराकरण तो अन्तिमके निराकरणसे ही हो जायगा; इसलिये उसके निराकरणका यत्न नहीं किया जाता।

इस प्रकार जो कोई उत्कर्ष और अपकर्षको त्यागकर 'मैं ही उपर्युक्त सत्य ज्ञान और अनन्तरूप अद्वैत ब्रह्म हूँ' ऐसा जानता है वह एवंवित्

त्येवंवित् । एवंशब्दस्य प्रकृतपरामर्शार्थत्वात् । स किम् ? अस्माल्लोकात्प्रेत्य दृष्टादृष्टेष्टविषयसमुदायो ह्ययं लोकस्तस्माल्लोकात्प्रेत्य प्रत्यावृत्त्य निरपेक्षो भूत्वैतं यथाव्याख्यातमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । विषयजातमन्नमयात्पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं न पश्यति । सर्वं स्थूलभूतमन्नमयमात्मानं पश्यतीत्यर्थः ।

(इस प्रकार जाननेवाला) है, क्योंकि 'एवम्' शब्द प्रसंगमें आये हुए पदार्थका परामर्श (निर्देश) करनेके लिये हुआ करता है । वह एवंवित् क्या [करता है ?] इस लोकसे जाकर—दृष्ट और अदृष्ट इष्ट विषयोंका समुदाय ही यह लोक है, उस इस लोकसे प्रेत्य—प्रत्यावर्तन करके (लौटकर) अर्थात् उससे निरपेक्ष होकर इस ऊपर व्याख्या किये हुए अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है । अर्थात् वह विषयसमूहको अन्नमय शरीरसे भिन्न नहीं देखता; तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण स्थूल भूतवर्गको अन्नमय शरीर ही समझता है ।

ततोऽभ्यन्तरमेतं प्राणमयं सर्वान्नमयात्मस्थमविभक्तम् । अथैतं मनोमयं विज्ञानमयमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । अथादृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ।

उसके भीतर वह सम्पूर्ण अन्नमय कोशोंमें स्थित विभागहीन प्राणमय आत्माको देखता है । और फिर क्रमशः इस मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है । तत्पश्चात् वह इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रय आत्मामें अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है ।

तृतीयानुप्रश्न-विचारः

तत्रैतच्चिन्त्यम् । कोऽयमेवंवित्कथं वा संक्रामतीति । किं परस्मादात्मनोऽन्यः संक्रमणकर्ता प्रविभक्त उत स एवेति ।

अब यहाँ यह विचारना है कि यह इस प्रकार जाननेवाला है कौन ? और यह किस प्रकार संक्रमण करता है ? वह संक्रमणकर्ता परमात्मासे भिन्न है अथवा स्वयं वही है ।

किं ततः ?

यद्यन्यः स्याच्छ्रुतिविरोधः । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति । न स वेद" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) इति । अथ स एव, आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिः, परस्यैव च संसारित्वं पराभावो वा ।

यद्युभयथा प्राप्तो दोषो न परिहर्तुं शक्यत इति व्यर्था चिन्ता । अथान्यतरस्मिन्पक्षे दोषाप्राप्तिस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टे स एव शास्त्रार्थ इति व्यर्थैव चिन्ता ।

न; तन्निर्धारणार्थत्वात् । सत्यं

पूर्व०—इस विचारसे लाभ क्या है ?

सिद्धान्ती—यदि वह उससे भिन्न है तो "उसे रचकर उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया" "यह अन्य है और मैं अन्य हूँ—इस प्रकार जो कहता है वह नहीं जानता" "एक ही अद्वितीय" "तू वह है" इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा । और यदि वह स्वयं ही आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है तो उस [एक ही] में कर्म और कर्तापन दोनोंका होना असम्भव है, तथा परमात्माको ही संसारित्वकी प्राप्ति अथवा उसके परमात्मत्वका अभाव सिद्ध होता है ।

पूर्व०—यदि दोनों ही अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले दोषका परिहार नहीं किया जा सकता तो उसका विचार करना व्यर्थ है और यदि किसी एक पक्षको स्वीकार कर लेनेसे दोषकी प्राप्ति नहीं होती अथवा कोई तीसरा निर्दोष पक्ष हो तो उसे ही शास्त्रका आशय समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामें भी विचार करना व्यर्थ ही होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह उसका निश्चय करनेके लिये है ।

प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तुमन्यतरस्मिंस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टेऽवधृते व्यर्था चिन्ता स्यान्न तु सोऽवधृत इति तदवधारणार्थत्वादर्थवत्येवैषा चिन्ता ।

यह ठीक है कि इस प्रकार प्राप्त होनेवाला दोष निवृत्त नहीं किया जा सकता तथा उपर्युक्त दोनों पक्षोंमेंसे किसी एकका अथवा किसी तीसरे निर्दोष पक्षका निश्चय हो जानेपर भी यह विचार व्यर्थ ही होगा । किन्तु उस पक्षका निश्चय तो नहीं हुआ है; अतः उसका निश्चय करनेके लिये होनेके कारण यह विचार सार्थक ही है ।

सत्यमर्थवती चिन्ता शास्त्रार्थावधारणार्थत्वात् । चिन्तयसि च त्वं न तु निर्णेष्यसि,

पूर्व०—शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय करनेके लिये होनेसे तो सचमुच यह विचार सार्थक है, परन्तु तू तो केवल विचार ही करता है, निर्णय तो कुछ करेगा नहीं ।

किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचनम् ?

सिद्धान्ती—निर्णय नहीं करना चाहिये—ऐसा क्या कोई वेदवाक्य है ?

न ।

पूर्व०—नहीं ।

कथं तर्हि ?

सिद्धान्ती—तो फिर निर्णय क्यों नहीं होगा ?

बहुप्रतिपक्षत्वात् । एकत्ववादी त्वम्, वेदार्थपरत्वाद्, बहवो हि नानात्ववादिनो वेदबाह्यास्त्वत्प्रतिपक्षाः । अतो ममाशङ्कां न निर्णेष्यसीति ।

पूर्व०—क्योंकि तेरा प्रतिपक्ष बहुत है । वेदार्थपरायण होनेके कारण तू तो एकत्ववादी है किन्तु तेरे प्रतिपक्षी वेदबाह्य नानात्ववादी बहुत हैं । इसलिये मुझे सन्देह है कि तू मेरी शङ्काका निर्णय नहीं कर सकेगा ।

एतदेव मे स्वस्त्ययनं यन्मा-

सिद्धान्ती—तूने जो मुझे बहुत-से

मेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिपक्षमात्थ । अतो जेष्यामि सर्वान्; आरभे च चिन्ताम् ।

स एव तु स्यात्तद्भावस्य विवक्षितत्वात् । तद्विज्ञानेन परमात्मभावो ह्यत्र विवक्षितो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति । न ह्यन्यस्यान्यभावापत्तिरुपपद्यते । ननु तस्यापि तद्भावापत्तिरनुपन्नैव ? न; अविद्याकृततादात्म्यापोहार्थत्वात् । या हि ब्रह्मविद्यया स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते साविद्याकृतस्यान्नादिविशेषात्मन आत्मत्वेनाध्यारोपितस्यानात्मनोऽपोहार्था ।

कथमेवमर्थतावगम्यते ?

अनेकत्ववादी प्रतिपक्षियोंसे युक्त एकत्ववादी बतलाया है—यही बड़े मंगलकी बात है । अतः अब मैं सबको जीत लूँगा; ले, मैं विचार आरम्भ करता हूँ ।

वह संक्रमणकर्ता परमात्मा ही है, क्योंकि यहाँ जीवको परमात्मभावकी प्राप्ति बतलानी अभीष्ट है । 'ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यके अनुसार यहाँ ब्रह्मविज्ञानसे परमात्मभावकी प्राप्ति होती है—यही प्रतिपादन करना इष्ट है । किसी अन्य पदार्थका अन्य पदार्थभावको प्राप्त होना सम्भव नहीं है । यदि कहो कि उसका स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त होना भी असम्भव ही है, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि यह कथन केवल अविद्यासे आरोपित अनात्म पदार्थोंका निषेध करनेके लिये ही है । [तात्पर्य यह है कि] ब्रह्मविद्याके द्वारा जो अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपदेश किया जाता है वह अविद्याकृत अन्नमयादि कोशरूप विशेषात्माका अर्थात् आत्मभावसे आरोपित किये हुए अनात्माका निषेध करनेके लिये ही है ।

पूर्व०—उसका इस प्रयोजनके लिये होना कैसे जाना जाता है ?

विद्यामात्रोपदेशात् । विद्यायाश्च दृष्टं कार्यमविद्यानिवृत्तिस्तच्चेह विद्यामात्रमात्मप्राप्तौ साधनमुपदिश्यते ।

सिद्धान्ती—केवल ज्ञानका ही उपदेश किया जानेके कारण । अज्ञानकी निवृत्ति—यह ज्ञानका प्रत्यक्ष कार्य है, और यहाँ आत्माकी प्राप्तिमें वह ज्ञान ही साधन बतलाया गया है ।

मार्गविज्ञानोपदेशवदिति चेत्तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोपदेशोऽहेतुः । कस्मात् ? देशान्तरप्राप्तौ मार्गविज्ञानोपदेशदर्शनात् । न हि ग्राम एव गन्तेति चेत् ?

पूर्व०—यदि वह मार्गविज्ञानके उपदेशके समान हो तो ? [अब इसीकी व्याख्या करते हैं—] केवल ज्ञानका ही साधनरूपसे उपदेश किया जाना उसकी परमात्मरूपतामें कारण नहीं हो सकता । ऐसा क्यों है ? क्योंकि देशान्तरकी प्राप्तिके लिये भी मार्गविज्ञानका उपदेश होता देखा गया है । ऐसी अवस्थामें ग्राम ही गमन करनेवाला नहीं हुआ करता—ऐसा माने तो ?

न, वैधर्म्यात् । तत्र हि ग्रामविषयं विज्ञानं नोपदिश्यते । तत्प्राप्तिमार्गविषयमेवोपदिश्यते ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वे दोनों समान धर्मवाले नहीं हैं । * [तुमने जो दृष्टान्त दिया है] उसमें ग्रामविषयक विज्ञानका उपदेश नहीं दिया जाता, केवल उसकी प्राप्तिके मार्गसे सम्बन्धित विज्ञान-

---

* ग्रामको जानेवाले और ब्रह्मको प्राप्त होनेवालेमें बड़ा अन्तर है । इसके सिवा ग्रामको जानेवालेको जो मार्गके विज्ञानका उपदेश किया जाता है उसमें यह नहीं कहा जाता कि 'तू अमुक ग्राम है' परन्तु ब्रह्मज्ञानका उपदेश तो 'तू ब्रह्म है' इस अभेदसूचक वाक्यसे ही किया जाता है ।

विज्ञानम् । न तथेह ब्रह्मविज्ञानं व्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं विज्ञानमुपदिश्यते ।

उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्मविज्ञानं परप्राप्तौ साधनमुपदिश्यत इति चेन्न; नित्यत्वान्मोक्षस्येत्यादिना प्रत्युक्तत्वात् । श्रुतिश्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति कार्यस्थस्य तदात्मत्वं दर्शयति । अभयप्रतिष्ठोपपत्तेश्च । यदि हि विद्यावान्स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति ततोऽभयं प्रतिष्ठां विन्दत इति स्याद्भयहेतोः परस्यान्यस्याभावात् । अन्यस्य चाविद्याकृतत्वे विद्ययावस्तुत्वदर्शनोपपत्तिस्तद्धि द्वितीयस्य

का ही उपदेश किया जाता है। उसके समान इस प्रसङ्गमें ब्रह्मविज्ञानसे भिन्न किसी अन्य साधनसम्बन्धी विज्ञानका उपदेश नहीं किया जाता ।

यदि कहो कि [पूर्वकाण्डमें] कहे हुए कर्मकी अपेक्षावाला ब्रह्मज्ञान परमात्माकी प्राप्तिमें साधनरूपसे उपदेश किया जाता है, तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्य है—इत्यादि हेतुओंसे इसका पहले ही निराकरण किया जा चुका है । 'उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' यह श्रुति भी कार्यमें स्थित आत्माका परमात्मत्व प्रदर्शित करती है । अभय-प्रतिष्ठाकी उपपत्तिके कारण भी [उनका अभेद ही मानना चाहिये] । यदि ज्ञानी अपनेसे भिन्न किसी औरको नहीं देखता तो वह अभयस्थितिको प्राप्त कर लेता है—ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि उस अवस्थामें भयके हेतुभूत अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं रहती । अन्य पदार्थ [अर्थात् द्वैत] के अविद्याकृत होनेपर ही विद्याके द्वारा उसके अवस्तुत्व दर्शनकी उपपत्ति हो सकती है । [भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाले]

चन्द्रस्य सत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते ।

द्वितीय चन्द्रमाकी वास्तविकता यही है कि वह तिमिररोगरहित नेत्रोंवाले पुरुषद्वारा ग्रहण नहीं किया जाता ।

नैवं न गृह्यत इति चेत् ?

पूर्व०—परन्तु द्वैतका ग्रहण न होता हो—ऐसी बात तो है नहीं ।

न, सुषुप्तसमाहितयोरग्रहणात् ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि सोये हुए और समाधिस्थ पुरुषको उसका ग्रहण नहीं होता ।

सुषुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति चेत् ?

पूर्व०—किन्तु सुषुप्तिमें जो द्वैतका अग्रहण है वह तो विषयान्तरमें आसक्तचित्त पुरुषके अग्रहणके समान है ?

न, सर्वाग्रहणात् । जाग्रत्स्वप्नयोरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति चेन्न; अविद्याकृतत्वाज्जाग्रत्स्वप्नयोः; यदन्यग्रहणं जाग्रत्स्वप्नयोस्तदविद्याकृतमविद्याभावेऽभावात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस समय तो सभी पदार्थोंका अग्रहण है [फिर वह अन्यासक्तचित्त कैसे कहा जा सकता है ?] यदि कहो कि जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अन्य पदार्थोंका ग्रहण होनेसे उनकी सत्ता है ही, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न अविद्याकृत हैं । जाग्रत् और स्वप्नमें जो अन्य पदार्थका ग्रहण है वह अविद्याके कारण है, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उसका अभाव हो जाता है ?

सुषुप्तेऽग्रहणमप्यविद्याकृतमिति चेत् ?

पूर्व०—सुषुप्तिमें जो अग्रहण है वह भी तो अविद्याके ही कारण है ।

वस्तुनस्तात्त्विकविशेषरूपयोर्निर्वचनम्

न, स्वाभाविकत्वात् । द्रव्यस्य हि तत्त्वमविक्रिया परानपेक्षत्वात् । विक्रिया न तत्त्वं परापेक्षत्वात् । न हि कारकापेक्षं वस्तुनस्तत्त्वम् । सतो विशेषः कारकापेक्षः, विशेषश्च विक्रिया । जाग्रत्स्वप्नयोश्च ग्रहणं विशेषः । यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत्तस्य तत्त्वम्, यदन्यापेक्षं न तत्तत्त्वम्; अन्याभावेऽभावात् । तस्मात्स्वाभाविकत्वाज्जाग्रत्स्वप्नवन्न सुषुप्ते विशेषः ।

भेददृष्टेर्भयहेतुत्वम्

येषां पुनरीश्वरोऽन्य आत्मनः कार्यं चान्यत्तेषां भयानिवृत्तिर्भयस्यान्यनिमित्तत्वात् । सतश्चान्यस्यात्महानानुपपत्तिः । न चासत आ-

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वह तो स्वाभाविक है । द्रव्यका तात्त्विक स्वरूप तो विकार न होना ही है, क्योंकि उसे दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । दूसरेकी अपेक्षावाला होनेके कारण विकार तत्त्व नहीं है । जो कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंकी अपेक्षावाला होता है वह वस्तुका तत्त्व नहीं होता । विद्यमान वस्तुका विशेष रूप कारकोंकी अपेक्षावाला होता है, और विशेष ही विकार होता है । जाग्रत् और स्वप्नका जो ग्रहण है वह भी विशेष ही है । जिसका जो रूप अन्यकी अपेक्षासे रहित होता है वही उसका तत्त्व होता है और जो अन्यकी अपेक्षावाला होता है वह तत्त्व नहीं होता, क्योंकि उस अन्यका अभाव होनेपर उसका भी अभाव हो जाता है । अतः [सुषुप्तावस्था] स्वाभाविक होनेके कारण उस समय जाग्रत् और स्वप्नके समान विशेषकी सत्ता नहीं है ।

किन्तु जिनके मतमें ईश्वर आत्मासे भिन्न है और उसका कार्यरूप यह जगत् भी भिन्न है उनके भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भय दूसरेके ही कारण हुआ करता है । अन्य पदार्थ यदि सत् होगा तब तो उसके स्वरूपका अभाव नहीं हो सकता और यदि असत्

त्मलाभः । सापेक्षस्यान्यस्य भयहेतुत्वमिति चेन्न, तस्यापि तुल्यत्वात् । यदधर्माद्यनुसहायीभूतं नित्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्ष्यान्यद्भयकारणं स्यात्तस्यापि तथाभूतस्यात्महानाभावाद्भयानिवृत्तिः आत्महाने वा सदसतोरितरेतरापत्तौ सर्वत्रानाश्वास एव ।

एकत्वपक्षे पुनः सनिमित्तस्य संसारस्य अविद्याकल्पितत्वाददोषः । तैमिरिकदृष्टस्य हि द्वितीयचन्द्रस्य नात्मलाभो नाशो वास्ति । विद्याविद्ययोस्तद्धर्मत्वमिति चेन्न प्रत्यक्षत्वात् । विवेकाविवेकौ

ज्ञानाज्ञानयोर्नात्मधर्मत्वम्

होगा तो उसके स्वरूपकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। यदि कहो कि दूसरा (ईश्वर) तो [हमारे धर्माधर्म आदिकी] अपेक्षासे ही भयका कारण है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वह [सापेक्ष ईश्वर] भी वैसा ही है। जो कोई [ईश्वरादि] दूसरा पदार्थ नित्य या अनित्य अधर्मादिरूप सहायक निमित्तकी अपेक्षासे भयका कारण होता है, यथार्थ होनेके कारण उसके स्वरूपका भी अभाव न होनेसे उसके भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती; और यदि उसके स्वरूपका अभाव माना जाय तो सत् और असत्को इतरेतरत्व [अर्थात् सत्को असत्त्व और असत्को सत्त्व] की प्राप्ति होनेसे कहीं विश्वास ही नहीं किया जा सकता।

परन्तु एकत्व-पक्ष स्वीकार करनेपर तो सारा संसार अपने कारणके सहित अविद्याकल्पित होनेके कारण कोई दोष ही नहीं आता। तिमिर रोगके कारण देखे गये द्वितीय चन्द्रमाके स्वरूपकी न तो प्राप्ति ही होती है और न नाश ही। यदि कहो कि ज्ञान और अज्ञान तो आत्माके ही धर्म हैं [इसलिये उनके कारण आत्माका विकार होता होगा] तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष (आत्माके दृश्य) हैं।

रूपादिवत्प्रत्यक्षावुपलभ्येते अन्तःकरणस्थौ । न हि रूपस्य प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम् । अविद्या च स्वानुभवेन रूप्यते मूढोऽहमविविक्तं मम विज्ञानमिति ।

तथा विद्याविवेकोऽनुभूयते । उपदिशन्ति चान्येभ्य आत्मनो विद्याम् । तथा चान्येऽवधारयन्ति । तस्मान्नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये नामरूपे च नात्मधर्मौ । "नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" (छा० उ० ८ । १४ । १) इति श्रुत्यन्तरात् । ते च पुनर्नामरूपे सवितर्यहोरात्रे इव कल्पिते न परमार्थतो विद्यमाने ।

अभेदे "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० उ० २ । ८ । ५) इति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेत् ?

रूप आदि विषयोंके समान अन्तःकरणमें स्थित विवेक और अविवेक प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं । प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेवाला रूप द्रष्टाका धर्म नहीं हो सकता । 'मैं मूढ हूँ, मेरी बुद्धि मलिन है' इस प्रकार अविद्या भी अपने अनुभवके द्वारा निरूपण की जाती है ।

इसी प्रकार विद्याका पार्थक्य भी अनुभव किया जाता है । बुद्धिमान् लोग दूसरोंको अपने ज्ञानका उपदेश किया करते हैं । तथा दूसरे लोग भी उसका निश्चय करते हैं । अतः विद्या और अविद्या नाम-रूप पक्षके ही हैं, तथा नाम और रूप आत्माके धर्म नहीं हैं, जैसा कि "जो नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है तथा जिसके भीतर वे (नाम और रूप) रहते हैं" वह ब्रह्म है, इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । वे नाम-रूप भी सूर्यमें दिन और रात्रिके समान कल्पित ही हैं, वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं ।

पूर्व०—किन्तु [ईश्वर और जीवका] अभेद माननेपर तो "वह इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है" इस श्रुतिमें जो [पुरुषका] कर्तृत्व और [आनन्दमय आत्माका] कर्मत्व बताया है वह उपपन्न नहीं होता ?

संक्रमणशब्द-तात्पर्यम्

न; विज्ञानमात्रत्वात्संक्रमणस्य । न जलूकादिवत्संक्रमणमिहोपदिश्यते, किं तर्हि ? विज्ञानमात्रं संक्रमणश्रुतेरर्थः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि पुरुषका संक्रमण तो केवल विज्ञानमात्र है । यहाँ जोंक आदिके संक्रमणके समान पुरुषके संक्रमणका उपदेश नहीं किया जाता । तो कैसा ? इस संक्रमण-श्रुतिका अर्थ तो केवल विज्ञानमात्र है ।*

ननु मुख्यमेव संक्रमणं श्रूयत उपसंक्रामतीति चेत् ?

पूर्व०—'उपसंक्रामति' इस पदसे यहाँ मुख्य संक्रमण (समीप जाना) ही अभिप्रेत हो तो ?

न; अन्नमयेऽदर्शनात् । न ह्यन्नमयमुपसंक्रामतो बाह्यादस्माल्लोकाज्जलूकावत्संक्रमणं दृश्यतेऽन्यथा वा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि अन्नमयमें मुख्य संक्रमण देखा नहीं जाता—अन्नमयको उपसंक्रमण करनेवालेका जोंकके समान इस बाह्य जगत्से अथवा किसी और प्रकारसे संक्रमण नहीं देखा जाता ।

मनोमयस्य बहिर्निर्गतस्य विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्यावृत्त्यात्मसंक्रमणमिति चेत् ?

पूर्व०—बाहर [निकलकर विषयोंमें] गये हुए मनोमय अथवा विज्ञानमय कोशोंका तो वहाँसे पुनः लौटनेपर अपनी ओर होना सङ्क्रमण हो ही सकता है ?

न; स्वात्मनि क्रियाविरोधादन्योऽन्नमयमन्यमुपसंक्रामतीति प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे अपनेमें ही अपनी क्रिया होना—यह विरोध उपस्थित होता है । अन्नमयसे भिन्न पुरुष अपनेसे भिन्न अन्नमयको प्राप्त होता है—इस प्रकार

* अर्थात् यहाँ 'संक्रमण' शब्दका अर्थ 'जाना' या 'पहुँचना' नहीं बल्कि 'जानना' है ।

स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति विरोधः स्यात् । तथा नानन्दमयस्यात्मसंक्रमणमुपपद्यते । तस्मान्न प्राप्तिः संक्रमणं नाप्यन्नमयादीनामन्यतमकर्तृकम् । पारिशेष्यादन्नमयाद्यानन्दमयान्तात्मव्यतिरिक्तकर्तृकं ज्ञानमात्रं च संक्रमणमुपपद्यते ।

प्रकरणका आरम्भ करके अब 'मनोमय अथवा विज्ञानमय अपनेको ही प्राप्त होता है' ऐसा कहनेमें उससे विरोध आता है । इसी प्रकार आनन्दमयका भी अपनेको प्राप्त होना सम्भव नहीं है; अतः प्राप्तिका नाम संक्रमण नहीं है और न वह अन्नमयादिमेंसे किसीके द्वारा किया जाता है । फलतः आत्मासे भिन्न अन्नमयसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त जिसका कर्ता है वह ज्ञानमात्र ही संक्रमण होना सम्भव है ।

ज्ञानमात्रत्वे चानन्दमयान्तःस्थस्यैव सर्वान्तरस्याकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं सृष्ट्वानुप्रविष्टस्य हृदयगुहाभिसंबन्धादन्नमयादिष्वनात्मस्वात्मविभ्रमः संक्रमणेनात्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विनश्यति । तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रमनाशे संक्रमणशब्द उपचर्यते न ह्यन्यथा सर्वगतस्यात्मनः संक्रमणमुपपद्यते ।

इस प्रकार 'संक्रमण' शब्दका अर्थ ज्ञानमात्र होनेपर ही आनन्दमय कोशके भीतर स्थित सर्वान्तर तथा आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हुए आत्माका जो हृदयगुहाके सम्बन्धसे अन्नमय आदि अनात्माओंमें आत्मत्वका भ्रम है वह संक्रमणस्वरूप विवेक ज्ञानकी उत्पत्तिसे नष्ट हो जाता है । अतः इस अविद्यारूप भ्रमके नाशमें ही संक्रमण शब्दका उपचार (गौणरूप) से प्रयोग किया गया है; इसके सिवा किसी और प्रकार सर्वगत आत्माका संक्रमण होना सम्भव नहीं है ।

वस्त्वन्तराभावाच्च। न च स्वात्मन एव संक्रमणम्। न हि जलूकात्मानमेव संक्रामति। तस्मात्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवनसर्गप्रवेशरसलाभाभय-संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वव्यवहारविषये;न तु परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिदपि विकल्प उपपद्यते।

आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुका अभाव होनेसे भी [उसका किसीके प्रति जानारूप संक्रमण नहीं हो सकता]। अपना अपनेको ही प्राप्त होना तो सम्भव नहीं है। जोंक अपने प्रति ही संक्रमण (गमन) नहीं करती। अतः 'ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' इस पूर्वोक्त लक्षणवाले आत्माके ज्ञानके लिये ही सम्पूर्ण व्यवहारके आधार-भूत ब्रह्ममें अनेक होना, सृष्टिमें अनुप्रवेश करना, आनन्दकी प्राप्ति, अभय और संक्रमणादिकी कल्पना की गयी है; परमार्थतः तो निर्विकल्प ब्रह्ममें कोई विकल्प होना सम्भव है नहीं।

तमेतं निर्विकल्पमात्मानमेवं-क्रमेणोपसंक्रम्य विदित्वा न बिभेति कुतश्चनाभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्येतस्मिन्नर्थेऽप्येष श्लोको भवति। सर्वस्यैवास्य प्रकरणस्यानन्दवल्ल्यर्थस्य संक्षेपतः प्रकाशनायैष मन्त्रो भवति॥५॥

इस प्रकार क्रमशः उस इस निर्विकल्प आत्माके प्रति उपसंक्रमण-कर अर्थात् उसे जानकर साधक किसीसे भयभीत नहीं होता। वह अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है। इसी अर्थमें यह श्लोक भी है। इस सम्पूर्ण प्रकरणके अर्थात् आनन्द-वल्लीके अर्थको संक्षेपसे प्रकाशित करनेके लिये ही यह मन्त्र है॥५॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः॥ ८॥

नवम अनुवाक

ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले विद्वान्‌की अभयप्राप्ति

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳ ह वाव न तपति। किमहꣳसाधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ १॥

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आती है उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता। उस विद्वान्‌को, मैंने शुभ क्यों नहीं किया, पापकर्म क्यों कर डाला—इस प्रकारकी चिन्ता सन्तप्त नहीं करती। उन्हें [ये पाप और पुण्य ही तापके कारण हैं—] इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् अपने आत्माको प्रसन्न अथवा सबल करता है उसे ये दोनों आत्मस्वरूप ही दिखायी देते हैं। [वह कौन है?] जो इस प्रकार [पूर्वोक्त अद्वैत आनन्दस्वरूप ब्रह्मको] जानता है। ऐसी यह उपनिषद् (रहस्य-विद्या) है।

यतो यस्मान्निर्विकल्पाद्यथोक्त-लक्षणादद्वयानन्दादात्मनो वाचो-ऽभिधानानि द्रव्यादिसविकल्प-

जिस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले निर्विकल्प अद्वयानन्दरूप आत्माके पाससे द्रव्यादि सविकल्प वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाला वाक्य—अभिधान, जो वस्तुत्वमें [ब्रह्मको

वस्तुविषयाणि वस्तुसामान्यान्निर्विकल्पेऽद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयोक्तृभिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमानान्यप्राप्याप्रकाश्यैव निवर्तन्ते स्वसामर्थ्याद्धीयन्ते—

अन्य सविकल्प वस्तुओंके] समान समझनेके कारण वक्ताओंद्वारा, ब्रह्मके निर्विकल्प और अद्वैत होनेपर भी, उसका निर्देश करनेके लिये प्रयोग किया जाता है, उसे न पाकर अर्थात् उसे प्रकाशित किये बिना ही लौट आता है—अपनी सामर्थ्यसे च्युत हो जाता है—

मन इति प्रत्ययो विज्ञानम्। तच्च यत्राभिधानं प्रवृत्तमतीन्द्रियेऽप्यर्थे तदर्थे च प्रवर्तते प्रकाशनाय। यत्र च विज्ञानं तत्र वाचः प्रवृत्तिः। तस्मात्सहैव वाङ्मनसयोरभिधानप्रत्यययोः प्रवृत्तिः सर्वत्र।

['मनसा सह' (मनके सहित) इस पदसमूहमें] 'मन' शब्द प्रत्यय अर्थात् विज्ञानका वाचक है। वह, जहाँ-कहीं अतीन्द्रिय पदार्थोंमें भी शब्दकी प्रवृत्ति होती है वहीं उसे प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ करता है। जहाँ-कहीं भी विज्ञान है वहीं वाणीकी भी प्रवृत्ति है। अतः अभिधान और प्रत्ययरूप वाणी और मनकी सर्वत्र साथ-साथ ही प्रवृत्ति होती है।

तस्माद्ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा प्रयोक्तृभिः प्रयुज्यमाना अपि वाचो यस्मादप्रत्ययविषयादनभिधेयाददृश्यादिविशेषणात्सहैव मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशनसमर्थेन निवर्तन्ते तं ब्रह्मण आनन्दं श्रोत्रियस्यावृजिनस्याकामह-

इसलिये वक्ताओंद्वारा सर्वथा ब्रह्मका प्रकाश करनेके लिये ही प्रयोग की हुई वाणी, जिस प्रतीतिके अविषयभूत, अकथनीय, अदृश्य और निर्विशेष ब्रह्मके पाससे मन अर्थात् सबको प्रकाशित करनेमें समर्थ विज्ञानके सहित लौट आती है उस ब्रह्मके आनन्दको—श्रोत्रिय निष्पाप

तस्य सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्यात्मभूतं विषयविषयिसंबन्धविनिर्मुक्तं स्वाभाविकं नित्यमविभक्तं परमानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्यथोक्तेन विधिना न बिभेति कुतश्चन निमित्ताभावात् ।

अकामहत और सब प्रकारकी एषणाओंसे मुक्त साधकके आत्मभूत, विषय-विषयी सम्बन्धसे रहित, स्वाभाविक, नित्य और अविभक्त ऐसे ब्रह्मके उत्कृष्ट आनन्दको पूर्वोक्त विधिसे जाननेवाला पुरुष कोई भयका निमित्त न रहनेके कारण किसीसे भयभीत नहीं होता ।

न हि तस्माद्विदुषोऽन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति भिन्नं यतो बिभेति । अविद्यया यदोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवतीति ह्युक्तम् । विदुषश्चाविद्याकार्यस्य तैमिरिकदृष्टद्वितीयचन्द्रवन्नाशाद्भयनिमित्तस्य न बिभेति कुतश्चनेति युज्यते ।

उस विद्वान्से भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है जिससे कि उसे भय हो । अविद्यावश जब थोड़ा-सा भी अन्तर करता है तभी जीवको भय होता है—ऐसा कहा ही गया है । अतः तिमिररोगीके देखे हुए द्वितीय चन्द्रमाके समान विद्वान्के अविद्याके कार्यभूत भयके निमित्तका नाश हो जानेके कारण वह किसीसे नहीं डरता—ऐसा कहना ठीक ही है ।

मनोमये चोदाहृतो मन्त्रो मनसो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात् । तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तुत्यर्थं न बिभेति कदाचनेति भयमात्रं प्रतिषिद्धमिहाद्वैतविषये न बिभेति कुतश्चनेति भयनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते ।

मनोमय कोशके प्रकरणमें यह मन्त्र उदाहरणके लिये दिया गया था, क्योंकि मन ब्रह्मविज्ञानका साधन है । उसमें ब्रह्मत्वका आरोप करके उसकी स्तुतिके लिये ही 'वह कभी नहीं डरता' इस वाक्यसे उसके भयमात्रका प्रतिषेध किया गया था। यहाँ अद्वैतप्रकरणमें वह किसीसे नहीं डरता,—इस प्रकार भयके निमित्तका ही प्रतिषेध किया जाता है।

नन्वस्ति भयनिमित्तं साध्वकरणं पापक्रिया च ?

नैवम्; कथमित्युच्यते—एतं यथोक्तमेवंविदम्, ह वावेत्यवधारणार्थौ, न तपति नोद्वेजयति न संतापयति । कथं पुनः साध्वकरणं पापक्रिया च न तपतीत्युच्यते । किं कस्मात्साधु शोभनं कर्म नाकरवं न कृतवानस्मीति पश्चात्संतापो भवत्यासन्ने मरणकाले । तथा किं कस्मात्पापं प्रतिषिद्धं कर्माकरवं कृतवानस्मीति च नरकपतनादिदुःखभयात्तापो भवति । ते एते साध्वकरणपापक्रिये एवमेनं न तपतो यथाविद्वांसं तपतः ।

कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत इत्युच्यते—स य एवंविद्वानेते साध्वसाधुनी तापहेतू इत्यात्मानं स्पृणुते प्रीणयति बलयति वा

शंका—किन्तु शुभ कर्मका न करना और पापकर्म करना यह तो भयका कारण है ही ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है । किस प्रकार नहीं है सो बतलाया जाता है—इस पूर्वोक्तको अर्थात् इस प्रकार जाननेवालेको वह तप्त—उद्विग्न अर्थात् सन्तप्त नहीं करता । मूलमें 'ह' और 'वाव' ये निश्चयार्थक निपात हैं । वह पुण्यका न करना और पापक्रिया उसे किस प्रकार ताप नहीं देते ? इसपर कहते हैं—'मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया' ऐसा पश्चात्ताप मरणकाल समीप आनेपर हुआ करता है तथा 'मैंने पाप यानी प्रतिषिद्ध कर्म क्यों किया' ऐसा दुःख नरकपात आदिके भयसे होता है । ये पुण्यका न करना और पापका करना इस विद्वान्‌को इस प्रकार सन्तप्त नहीं करते जैसे कि वे अविद्वान्‌को किया करते हैं ।

वे विद्वान्‌को क्यों सन्तप्त नहीं करते ? सो बतलाया जाता है—ये पाप-पुण्य ही तापके हेतु हैं—इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् आत्माको प्रसन्न अथवा सबल करता

परमात्मभावेनोभे पश्यतीत्यर्थः । उभे पुण्यपापे हि यस्मादेवमेष विद्वानेते आत्मानमात्मरूपेणैव पुण्यपापे स्वेन विशेषरूपेण शून्ये कृत्वात्मानं स्पृणुत एव । को य एवं वेद यथोक्तमद्वैतमानन्दं ब्रह्म वेद तस्यात्मभावेन दृष्टे पुण्यपापे निर्वीर्ये अतापके जन्मान्तरारम्भके न भवतः ।

है अर्थात् इन दोनोंको परमात्मभावसे देखता है [उसे ये पाप-पुण्य सन्तप्त नहीं करते] । क्योंकि ये पाप-पुण्य दोनों ऐसे हैं [अर्थात् आत्मस्वरूप हैं] अतः यह विद्वान् इस पाप-पुण्यरूप आत्माको आत्मभावनासे ही अपने विशेषरूपसे शून्य कर आत्माको ही तृप्त करता है । वह विद्वान् कौन है ? जो इस प्रकार जानता है अर्थात् पूर्वोक्त अद्वैत एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्मको जानता है । उसके आत्मभावसे देखे हुए पुण्य-पाप निर्वीर्य और ताप पहुँचानेवाले न होनेसे जन्मान्तरके आरम्भक नहीं होते ।

इतीयमेवं यथोक्तास्यां वल्ल्यां ब्रह्मविद्योपनिषत्सर्वाभ्यो विद्याभ्यः परमरहस्यं दर्शितमित्यर्थः । परं श्रेयोऽस्यां निषण्णमिति ॥१॥

इस प्रकार इस वल्लीमें, जैसी कि ऊपर कही गयी है, यह ब्रह्मविद्यारूप उपनिषद् है । अर्थात् इसमें अन्य सब विद्याओंकी अपेक्षा परम रहस्य प्रदर्शित किया गया है । इस विद्यामें ही परम श्रेय निहित है ॥१॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये
ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता ।

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

भृगुका अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न करना तथा वरुणका ब्रह्मोपदेश

उपक्रमः

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माकाशादिकार्यमन्नमयान्तं सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं विशेषवदिवोपलभ्यमानं यस्मात्तस्मात्सर्वकार्यविलक्षणमदृश्यादिधर्मकमेवानन्दं तदेवाहमिति विजानीयादनुप्रवेशस्य तदर्थत्वात्तस्यैवं विजानतः शुभाशुभे कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न भवत इत्येवमानन्दवल्ल्यां विवक्षितोऽर्थः परिसमाप्ता च ब्रह्मविद्या। अतः परं ब्रह्मविद्यासाधनं तपो वक्तव्यमन्नादिविषयाणि चोपासनान्यनुक्तानीत्यत

क्योंकि सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ही आकाशसे लेकर अन्नमयपर्यन्त कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो सविशेष-सा उपलब्ध हो रहा है इसलिये वह सम्पूर्ण कार्यवर्गसे विलक्षण अदृश्यादि धर्मवाला आनन्द ही है; और वही मैं हूँ—ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि उसके अनुप्रवेशका यही उद्देश्य है। इस प्रकार जाननेवाले उस साधकके शुभाशुभ कर्म जन्मान्तरका आरम्भ करनेवाले नहीं होते। आनन्दवल्लीमें यही विषय कहना अभीष्ट था। अब ब्रह्मविद्या तो समाप्त हो चुकी। यहाँसे आगे ब्रह्मविद्याके साधन तपका निरूपण करना है तथा जिनका पहले निरूपण नहीं किया गया है उन अन्नादिविषयक उपासनाओंका भी वर्णन करना है; इसीलिये इस

इदमारभ्यते— | प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । त ँ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

वरुणका सुप्रसिद्ध पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया [और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोध कराइये ।' उससे वरुणने यह कहा—'अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाक् [ये ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं] ।' फिर उससे कहा—'जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर जिसके आश्रयसे ये जीवित रहते हैं और अन्तमें विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर; वही ब्रह्म है ।' तब उस (भृगु) ने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

आख्यायिका विद्यास्तुतये, प्रियाय पुत्राय पित्रोक्तेति—भृगुर्वै वारुणिः । वैशब्दः प्रसिद्धानुस्मारको भृगुरित्येवंनामा प्रसिद्धोऽनुस्मार्यते । वारुणिर्वरुणस्यापत्यं वारुणिर्वरुणं पितरं

पिताने अपने प्रिय पुत्रको इस (विद्या) का उपदेश किया था—इस दृष्टिसे यह आख्यायिका विद्याकी स्तुतिके लिये है । 'भृगुर्वै वारुणिः' इसमें 'वै' शब्द प्रसिद्धका स्मरण करानेवाला है । इससे 'भृगु' इस नामसे प्रसिद्ध ऋषिका अनुस्मरण कराया जाता है जो वारुणि अर्थात् वरुणका पुत्र था । वह ब्रह्मको

ब्रह्म विजिज्ञासुरुपससारोपगतवान्, अधीहि भगवो ब्रह्मेत्यनेन मन्त्रेण। अधीहि अध्यापय कथय। स च पिता विधिवदुपसन्नाय तस्मै पुत्रायैतद्वचनं प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।

जाननेकी इच्छावाला होकर अपने पिता वरुणके पास गया। अर्थात् 'हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये' इस मन्त्रके द्वारा [उसने गुरूपसदन किया]। 'अधीहि' शब्दका अर्थ अध्यापन (उपदेश) कीजिये—कहिये ऐसा समझना चाहिये। उस पिताने अपने पास विधिपूर्वक आये हुए उस पुत्रसे यह वाक्य कहा—'अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनः वाचम्।'

वरुणोपदिष्ट- ब्रह्मप्राप्तिद्वाराणि

अन्नं शरीरं तदभ्यन्तरं च प्राणमत्तारमुपलब्धिसाधनानि चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमित्येतानि ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्युक्तवान्। उक्त्वा च द्वारभूतान्येतान्यन्नादीनि तं भृगुं होवाच ब्रह्मणो लक्षणम्। किं तत्?

'अन्न अर्थात् शरीर उसके भीतर अन्न भक्षण करनेवाला प्राण, तदनन्तर विषयोंकी उपलब्धिके साधनभूत चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक् ये ब्रह्मकी उपलब्धिमें द्वाररूप हैं'—ऐसा उसने कहा। इस प्रकार इन द्वारभूत अन्नादिको बतलाकर उसने उस भृगुको ब्रह्मका लक्षण बतलाया। वह क्या है? [सो बतलाते हैं—]

ब्रह्मलक्षणम्

यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्ते। विनाशकाले

जिससे ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रयसे ये जन्म लेनेके अनन्तर जीवित रहते—प्राण धारण करते अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होते हैं तथा विनाशकाल उपस्थित होनेपर

च यत्प्रयन्ति यद्ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंविशन्ति तादात्म्यमेव प्रतिपद्यन्ते । उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु यदात्मतां न जहति भूतानि तदेतद्ब्रह्मणो लक्षणम् । तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्व विशेषेण ज्ञातुमिच्छस्व । यदेवंलक्षणं ब्रह्म तदन्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरं च—"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुस्ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । १८) इति ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्येतानीति दर्शयति ।

जिसके प्रति प्रयाण करनेवाले अर्थात् जिस ब्रह्मके प्रति गमन करनेवाले वे जीव उसमें प्रवेश करते—उसके तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और लयकालमें प्राणी जिसकी तद्रूपताका त्याग नहीं करते यही उस ब्रह्मका लक्षण है । तू उस ब्रह्मको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर; अर्थात् जो ऐसे लक्षणोंवाला ब्रह्म है उसे अन्नादिके द्वारा प्राप्त कर । "ब्रह्म प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका अन्न और मनका मन है—ऐसा जो जानते हैं वे उस पुरातन और श्रेष्ठ ब्रह्मको साक्षात् जान सकते हैं" ऐसी एक दूसरी श्रुति भी इस बातको प्रदर्शित करती है कि ये प्राणादि ब्रह्मकी उपलब्धिमें द्वारस्वरूप हैं ।

स भृगुर्ब्रह्मोपलब्धिद्वाराणि ब्रह्मलक्षणं च श्रुत्वा पितुस्तपो ब्रह्मोपलब्धिसाधनत्वेनातप्यत तप्तवान् । कुतः पुनरनुपदिष्टस्यैव तपसः साधनत्वप्रतिपत्तिर्भृगोः ?

ब्रह्मोपलब्धये भृगोस्तपः

उस भृगुने अपने पितासे ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार और ब्रह्मका लक्षण सुनकर ब्रह्मसाक्षात्कारके साधनरूपसे तप किया । [यहाँ प्रश्न होता है कि] जिसका उपदेश ही नहीं दिया गया था उस तपके [ब्रह्मप्राप्तिका] साधन होनेका ज्ञान भृगुको कैसे हुआ ? [उत्तर—]

सावशेषोक्तेः । अन्नादि ब्रह्मणः प्रतिपत्तौ द्वारं लक्षणं च यतो वा इमानीत्याद्युक्तवान् । सावशेषं हि तत्साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात् ।

क्योंकि [उसके पिताका] कथन सावशेष (जिसमें कुछ कहना शेष रह गया हो—ऐसा) था । वरुणने 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि रूपसे अन्नादि ब्रह्मकी प्राप्तिका द्वार और लक्षण कहा था । वह सावशेष (असम्पूर्ण) था, क्योंकि उससे ब्रह्मका साक्षात् निर्देश नहीं होता ।

अन्यथा हि स्वरूपेणैव ब्रह्म निर्देष्टव्यं जिज्ञासवे पुत्रायेदमित्थंरूपं ब्रह्मेति । न चैवं निरदिशत्किं तर्हि ? सावशेषमेवोक्तवान् । अतोऽवगम्यते नूनं साधनान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्मविज्ञानं प्रतीति । तपोविशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात् । सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयाणां साधनानां तप एव साधकतमं साधनमिति हि प्रसिद्धं लोके । तस्मात्पित्रानुपदिष्टमपि ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वेन तपः प्रतिपेदे भृगुः । तच्च तपो बाह्यान्तःकरणसमाधानं तद्द्वारकत्वाद्ब्रह्म-

नहीं तो, उसे अपने जिज्ञासु पुत्रके प्रति 'वह ब्रह्म ऐसा है' इस प्रकार उसका स्वरूपसे ही निर्देश करना चाहिये था । किन्तु इस प्रकार उसने निर्देश किया नहीं है । तो किस प्रकार किया है ? उसने उसे सावशेष ही उपदेश किया है । इससे जाना जाता है कि उसके पिताको अवश्य ही ब्रह्मज्ञानके प्रति किसी अन्य साधनकी भी अपेक्षा है । सबसे बड़ा साधन होनेके कारण भृगुने तपको ही विशेष रूपसे ग्रहण किया । जिनके साध्य विषय नियत हैं उन साधनोंमें तप ही सबसे अधिक सिद्धि प्राप्त करानेवाला साधन है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है । इसलिये पिताके उपदेश न देनेपर भी भृगुने ब्रह्मविज्ञानके साधनरूपसे तपको स्वीकार किया । वह तप बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरणका समाहित करना

अतिपत्तेः । "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः । तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते" (महा० शा०२५०। ४) इति स्मृतेः । स च तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

ही है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति उसीके द्वारा होनेवाली है । "मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है । वह सब धर्मोंसे उत्कृष्ट है और वही परम धर्म कहा जाता है"—इस स्मृतिसे यही बात सिद्ध होती है । उस भृगुने तप करके—॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्न ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना ।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय अन्नमें ही लीन होते हैं । ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता वरुणके पास आया [और कहा—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये ।' वरुणने उससे कहा—'ब्रह्मको तपके द्वारा जाननेकी

इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्विज्ञातवान् तद्धि यथोक्तलक्षणोपेतम्। कथम्? अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते; अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तस्माद्युक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायः। स एवं तपस्तप्त्वान्नं ब्रह्मेति विज्ञायान्नलक्षणेनोपपत्त्या च पुनरेव संशयमापन्नो वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

अन्न ब्रह्म है-ऐसा जाना। वही उपर्युक्त लक्षणसे युक्त है। सो कैसे? क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा मरणोन्मुख होनेपर अन्नमें ही लीन हो जाते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि अन्नका ब्रह्मरूप होना ठीक ही है। वह इस प्रकार तप करके तथा अन्नके लक्षण और युक्तिके द्वारा 'अन्न ही ब्रह्म है' ऐसा जानकर फिर भी संशयग्रस्त हो पिता वरुणके पास आया [और बोला—] 'भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये'।

कः पुनः संशयहेतुरस्येत्युच्यते—अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात्। तपसः पुनः पुनरुपदेशः साधनातिशयत्वावधारणार्थः। यावद्ब्रह्मणो लक्षणं निरतिशयं न भवति यावच्च जिज्ञासा न निवर्तते तावत्तप एव ते साधनम्। तप-

परन्तु इसमें उसके संशयका कारण क्या था? सो बतलाया जाता है। अन्नकी उत्पत्ति देखनेसे [उसे ऐसा सन्देह हुआ]। यहाँ तपका जो बारम्बार उपदेश किया गया है वह उसका प्रधानसाधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये है। अर्थात् जबतक ब्रह्मका लक्षण निरतिशय न हो जाय और जबतक तेरी जिज्ञासा शान्त न हो तबतक तप ही तेरे लिये साधन है। तात्पर्य यह

सैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यर्थः । ऋज्वन्यत् ॥ १ ॥

है कि तू तपसे ही ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर। शेष अर्थ सरल है ॥१॥

इति भृगुवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसीमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

प्राण ब्रह्म है—ऐसा जाना। क्योंकि निश्चय प्राणसे ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर प्राणसे ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होनेपर प्राणमें ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता वरुणके पास आया। [और बोला—] 'भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये।' उससे वरुणने कहा—'तू तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

मन ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय मनसे ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर मनके द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्तमें प्रयाण करते हुए मनमें ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर पिता वरुणके पास गया [और बोला—] 'भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये।' वरुणने उससे कहा—'तू तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

पंचम अनुवाक

विज्ञान ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳहोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

विज्ञान ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय विज्ञानसे ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर विज्ञानसे ही जीवित रहते हैं और फिर मरणोन्मुख होकर विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर पिता वरुणके समीप आया [और बोला—] 'भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये।' वरुणने उससे कहा—'तू तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है।' तब उसने तप किया और तप करके—॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा भृगुका निश्चय करना, तथा इस भार्गवी वारुणी विद्याका महत्त्व और फल

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥१॥

आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि आनन्दसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्दमें ही समा जाते हैं। वह यह भृगुकी जानी हुई और वरुणकी उपदेश की हुई विद्या परमाकाशमें स्थित है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्ममें स्थित होता है; वह अन्नवान् और अन्नका भोक्ता होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

एवं तपसा विशुद्धात्मा प्राणादिषु साकल्येन ब्रह्मलक्षण-मपश्यञ्शनैः शनैरन्तरनुप्रविश्या-

इस प्रकार तपसे शुद्धचित्त हुए भृगुने प्राणादिमें पूर्णतया ब्रह्मका लक्षण न देखकर धीरे-धीरे भीतरको ओर प्रवेश कर तपरूप साधनके

न्तरतममानन्दं ब्रह्म विज्ञातवां-स्तपसैव साधनेन भृगुः । तस्माद्ब्रह्मविजिज्ञासुना बाह्यान्तःकरण-समाधानलक्षणं परमं तपःसाधन-मनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः ।

अधुनाख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वेन वचनेनाख्यायिका-निर्वर्त्यमर्थमाचष्टे—सैषा भार्गवी भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता वारुणी विद्या परमे व्योमन्हृदया-काशगुहायां परम आनन्देऽद्वैते प्रतिष्ठिता परिसमाप्तान्नमयादात्म-नोऽधिप्रवृत्ता । य एवमन्योऽपि तपसैव साधनेनानेनैव क्रमेणा-नुप्रविश्यानन्दं ब्रह्म वेद स एवं विद्याप्रतिष्ठानात्प्रतितिष्ठत्यानन्दे परमे ब्रह्मणि, ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।

दृष्टं च फलं तस्योच्यते—

अन्नवान्प्रभूतमन्नमस्य विद्यत

द्वारा ही सबकी अपेक्षा अन्तरतम आनन्दको ब्रह्म जाना । अतः जो ब्रह्मको जाननेकी इच्छावाला हो उसे साधनरूपसे बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरणका समाधानरूप परम तप ही करना चाहिये—यह इस प्रकरणका तात्पर्य है ।

अब आख्यायिकासे निवृत्त होकर श्रुति अपने ही वाक्यसे आख्यायिका-से निष्पन्न होनेवाला अर्थ बतलाती है—अन्नमय आत्मासे प्रारम्भ हुई यह भार्गवी—भृगुकी जानी हुई और वारुणी—वरुणकी कही हुई विद्या परमाकाशमें—हृदयाकाशस्थित गुहा-के भीतर अद्वैत परमानन्दमें प्रतिष्ठित है अर्थात् वहीं इसका पर्यवसान होता है । इसी प्रकार जो कोई दूसरा पुरुष भी इसी क्रमसे तपरूप साधनके द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश करके आनन्दको ब्रह्मरूपसे जानता है वह इस प्रकार विद्यामें स्थिति लाभ करनेसे आनन्द अर्थात् परब्रह्ममें स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म ही हो जाता है ।

अब उसका दृष्ट (इस लोकमें प्राप्त होनेवाला) फल बतलाया जाता है—अन्नवान्—जिसके पास

इत्यन्नवान् । सत्तामात्रेण तु सर्वो ह्यन्नवानिति विद्याया विशेषो न स्यात् । एवमन्नमत्ती-त्यन्नादो दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थः । महान्भवति । केन महत्त्वमित्यत आह—प्रजया पुत्रादिना पशु-भिर्गवाश्वादिभिर्ब्रह्मवर्चसेन शम-दमज्ञानादिनिमित्तेन तेजसा । महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या शुभप्रचारनिमित्तया ॥१॥

बहुत-सा अन्न हो उसे अन्नवान् कहते हैं ।* अन्नकी सत्तामात्रसे तो सभी अन्नवान् हैं, अतः [यदि उस प्रकार अर्थ किया जाय तो] विद्याकी कोई विशेषता नहीं रहती । इसी प्रकार वह अन्नाद—जो अन्न भक्षण करे यानी दीप्ताग्नि हो जाता है । वह महान् हो जाता है । उसका महत्त्व किस कारणसे होता है ? इसपर कहते हैं—पुत्रादि प्रजा, गौ, अश्व आदि पशु, तथा ब्रह्मतेज यानी शम, दम एवं ज्ञानादिके कारण होनेवाले तेजसे तथा कीर्ति यानी शुभाचरणके कारण होनेवाली ख्यातिसे वह महान् हो जाता है ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

---

* मूलमें केवल 'अन्नवान्' है, भाष्यमें उसका अर्थ 'प्रभूत (बहुतसे) अन्नवाला' किया गया है । इससे यह शंका होती है कि 'प्रभूत' विशेषणका प्रयोग क्यों किया गया । इसीका समाधान करनेके लिये आगेका वाक्य है ।

सप्तम अनुवाक

अन्नकी निन्दा न करनारूप व्रत तथा शरीर और प्राणरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नकी निन्दा न करे । यह ब्रह्मज्ञका व्रत है । प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है । प्राणमें शरीर स्थित है और शरीरमें प्राण स्थित है । इस प्रकार [एक दूसरेके आश्रित होनेसे वे एक दूसरेके अन्न हैं; [अतः] ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित (प्रख्यात) होता है, अन्नवान् और अन्नभोक्ता होता है । प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

किं चान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं यस्मात्तस्माद्गुरुमिव अन्नं न निन्द्यात्तदस्यैवं ब्रह्मविदो व्रतमुपदिश्यते । व्रतोप-

इसके सिवा क्योंकि द्वारभूत अन्नके द्वारा ही ब्रह्मको जाना है इसलिये गुरुके समान अन्नकी भी निन्दा न करे । इस प्रकार ब्रह्म-वेत्ताके लिये यह व्रत उपदेश किया जाता है । यह व्रतका उपदेश

देशोऽन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्त्वं चान्नस्य ब्रह्मोपलब्ध्युपायत्वात् ।

प्राणो वा अन्नम्, शरीरान्तर्भावात्प्राणस्य । यद्यस्यान्तःप्रतिष्ठितं भवति तत्तस्यान्नं भवतीति । शरीरे च प्राणः प्रतिष्ठितस्तस्मात्प्राणोऽन्नं शरीरमन्नादम् । तथा शरीरमप्यन्नं प्राणोऽन्नादः । कस्मात् ? प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्; तन्निमित्तत्वाच्छरीरस्थितेः । तस्मात्तदेतदुभयं शरीरं प्राणश्चान्नमन्नादश्च । येनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम् । येनान्योन्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः । तस्मात्प्राणः शरीरं चोभयमन्नमन्नादं च ।

स य एवमेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठत्यन्नान्नादात्मनैव । किं चान्नवानन्नादो भवतीत्यादि पूर्ववत् ॥१॥

अन्नकी स्तुतिके लिये है और अन्नकी स्तुतिपात्रता ब्रह्मोपलब्धिका साधन होनेके कारण है ।

प्राण ही अन्न है, क्योंकि प्राण शरीरके भीतर रहनेवाला है । जो जिसके भीतर स्थित रहता है वह उसका अन्न हुआ करता है । प्राण शरीरमें स्थित है, इसलिये प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है । इसी प्रकार शरीर भी अन्न है और प्राण अन्नाद है; कैसे ?—प्राणमें शरीर स्थित है, क्योंकि शरीरकी स्थिति प्राणके ही कारण है । अतः ये दोनों शरीर और प्राण अन्न और अन्नाद हैं । क्योंकि वे एक दूसरेमें स्थित हैं इसलिये अन्न हैं और क्योंकि एक दूसरेके आधार हैं इसलिये अन्नाद हैं । अतएव प्राण और शरीर दोनों ही अन्न और अन्नाद हैं ।

वह जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है, अन्न और अन्नादरूपसे ही स्थित होता है तथा अन्नवान् और अन्नाद होता है—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

अन्नका त्याग न करनारूप व्रत तथा जल और ज्योतिरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥१॥

अन्नका त्याग न करे। यह व्रत है। जल ही अन्न है। ज्योति अन्नाद है। जलमें ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योतिमें जल स्थित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अन्नं न परिचक्षीत न परिहरेत्। तद्व्रतं पूर्ववत्स्तुत्यर्थम्। तदेवं शुभाशुभकल्पनया अपरिह्रियमाणं स्तुतं महीकृतमन्नं स्यात्। एवं यथोक्तमुत्तरेष्वप्यापो वा अन्नमित्यादिषु योजयेत् ॥१॥	अन्नका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग न करे, यह व्रत है—यह कथन पूर्ववत् स्तुतिके लिये है। इस प्रकार शुभाशुभकी कल्पनासे उपेक्षा न किया हुआ अन्न ही यहाँ स्तुत एवं महिमान्वित किया जाता है। तथा आगेके 'आपो वा अन्नम्' इत्यादि वाक्योंमें भी पूर्वोक्त अर्थकी ही योजना करनी चाहिये ॥१॥

इति भृगुवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

अन्नसञ्चयरूप व्रत तथा पृथिवी और आकाशरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नको बढ़ावे—यह व्रत है । पृथिवी ही अन्न है । आकाश अन्नाद है । पृथिवीमें आकाश स्थित है और आकाशमें पृथिवी स्थित है । इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अप्सु ज्योतिरित्यब्ज्योतिषोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्यान्नस्य बहुकरणं व्रतम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त 'अप्सु ज्योतिः' आदि मन्त्रके अनुसार जल और ज्योतिकी अन्न और अन्नाद गुणसे उपासना करनेवालेके लिये 'अन्नको बढ़ाना व्रत है' [—यह बात इस मन्त्रमें कही गयी है] ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

गृहागत अतिथिको आश्रय और अन्न देनेका विधान एवं उससे प्राप्त होनेवाला फल; तथा प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते ॥ १ ॥

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति ॥ २ ॥

यश इति पशुषु ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥ ३ ॥

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर

इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ॥ ४ ॥

अपने यहाँ रहनेके लिये आये हुए किसीका भी परित्याग न करे। यह व्रत है। अतः किसी-न-किसी प्रकारसे बहुत-सा अन्न प्राप्त करे, क्योंकि वह (अन्नोपासक) उस (गृहागत अतिथि) से 'मैंने अन्न तैयार किया है' ऐसा कहता है। जो पुरुष मुखतः (प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्यवृत्तिसे यानी सत्कारपूर्वक) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मुख्यवृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है। जो मध्यतः (मध्यम आयुमें अथवा मध्यम वृत्तिसे) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यम वृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है। तथा जो अन्ततः (अन्तिम अवस्थामें अथवा निकृष्ट वृत्तिसे) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निकृष्ट वृत्तिसे ही अन्न प्राप्त होता है ॥ १ ॥ जो इस प्रकार जानता है [उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है। अब आगे प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन किया जाता है—] ब्रह्म वाणीमें क्षेम (प्राप्त वस्तुके परिरक्षण) रूपसे [स्थित है—इस प्रकार उपासनीय है], योगक्षेमरूपसे प्राण और अपानमें, कर्मरूपसे हाथोंमें, गतिरूपसे चरणोंमें और त्यागरूपसे पायुमें [उपासनीय है] यह मनुष्यसम्बन्धिनी उपासना है। अब देवताओंसे सम्बन्धित उपासना कही जाती है—तृप्तिरूपसे वृष्टिमें, बलरूपसे विद्युत्में ॥ २ ॥ यशरूपसे पशुओंमें, ज्योतिरूपसे नक्षत्रोंमें, पुत्रादि प्रजा, अमृतत्व और आनन्दरूपसे उपस्थमें तथा सर्वरूपसे आकाशमें [ब्रह्मकी उपासना करे]। वह ब्रह्म सबका प्रतिष्ठा (आधार) है—इस भावसे उसकी उपासना करे। इससे उपासक प्रतिष्ठावान् होता है। वह महः [नामक व्याहृति अथवा तेज] है—इस भावसे उसकी उपासना करे। इससे उपासक महान् होता है। वह मन है—इस प्रकार उपासना करे। इससे उपासक मानवान् (मनन करनेमें समर्थ) होता है ॥ ३ ॥ वह नमः है—इस

भावसे उसकी उपासना करे। इससे सम्पूर्ण काम्य पदार्थ उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं। वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। इससे वह ब्रह्मनिष्ठ होता है। वह ब्रह्मका परिमर (आकाश) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। इससे उससे द्वेष करनेवाले उसके प्रतिपक्षी मर जाते हैं, तथा जो अप्रिय भ्रातृव्य (भाईके पुत्र) होते हैं वे भी मर जाते हैं। वह, जो कि इस पुरुषमें है और वह जो इस आदित्यमें है, एक है ॥ ४ ॥

आतिथ्योपदेशः

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य वसतौ वसतिनिमित्तं कंचन कंचिदपि न प्रत्याचक्षीत वसत्यर्थमागतं न निवारयेदित्यर्थः। वासे च दत्तेऽवश्यं ह्यशनं दातव्यम्। तस्माद्यया कया च विधया येन केन च प्रकारेण बह्वन्नं प्राप्नुयाद्बह्वन्नसंग्रहं कुर्यादित्यर्थः।

तथा पृथिवी और आकाशकी [अन्न एवं अन्नादरूपसे] उपासना करनेवालेके यहाँ रहनेके लिये कोई भी आवे उसे उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। अर्थात् अपने यहाँ निवास करनेके लिये आये हुए किसी भी व्यक्तिका वह निवारण न करे। जब किसीको रहनेका स्थान दिया जाय तो उसे भोजन भी अवश्य देना चाहिये। अतः जिस-किसी भी विधिसे यानी किसी-न-किसी प्रकार बहुत-सा अन्न प्राप्त करे; अर्थात् खूब अन्न-संग्रह करे।

यस्मादन्नवन्तो विद्वांसोऽभ्यागतायान्नार्थिनेऽराधि संसिद्धमस्मा अन्नमित्याचक्षते न नास्तीति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति। तस्माच्च हेतोर्बह्वन्नं प्राप्नुयादिति पूर्वेण संबन्धः। अपि चान्नदा-

क्योंकि अन्नवान् उपासकगण अपने यहाँ आये हुए अन्नार्थीसे 'अन्न तैयार है' ऐसा कहते हैं—'अन्न नहीं है' ऐसा कहकर उसका परित्याग नहीं करते। इसलिये भी बहुत-सा अन्न उपार्जन करे—इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे सम्बन्ध

नस्य माहात्म्यमुच्यते । यथा यत्कालं प्रयच्छत्यन्नं तथा तत्कालमेव प्रत्युपनमते । कथमिति तदेतदाह—

एतद्वा अन्नं मुखतो मुख्ये

वृत्तिभेदेनान्नदानस्य फलभेदः

प्रथमे वयसि मुख्यया वा वृत्त्या पूजापुरःसरमभ्यागतायान्नार्थिने राद्धं संसिद्धं प्रयच्छतीति वाक्यशेषः । तस्य किं फलं स्यादित्युच्यते—मुखतः पूर्वे वयसि मुख्यया वा वृत्त्यास्मा अन्नादायान्नं राध्यते यथादत्तमुपतिष्ठत इत्यर्थः । एवं मध्यतो मध्यमे वयसि मध्यमेन चोपचारेण । तथाऽन्ततोऽन्ते वयसि जघन्येन चोपचारेण परिभवेन तथैवास्मै राध्यते संसिध्यत्यन्नम् ॥ १ ॥

य एवं वेद य एवमन्नस्य यथोक्तं माहात्म्यं वेद तद्दानस्य च फलम्, तस्य यथोक्तं फलमुपनमते ।

है । अब अन्नदानका माहात्म्य कहा जाता है—जो पुरुष जिस प्रकार और जिस समय अन्न-दान करता है उसे उसी प्रकार और उसी समय उसकी प्राप्ति होती है । ऐसा किस प्रकार होता है ? सो बतलाते हैं—

जो पुरुष मुखतः—मुख्य—प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्य वृत्तिसे यानी सत्कारपूर्वक राद्ध अर्थात् सिद्ध (पक्क) अन्नको अपने यहाँ आये हुए अन्नार्थी अतिथिको देता है—यहाँ प्रयच्छति (देता है) यह क्रियापद वाक्यशेष (अनुक्त अंश) है—उसे क्या फल मिलता है, सो बतलाया जाता है—इस अन्नदाताको मुखतः—प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्य वृत्तिसे अन्न प्राप्त होता है; अर्थात् जिस प्रकार दिया जाता है उसी प्रकार प्राप्त होता है । इसी प्रकार मध्यतः—मध्यम आयुमें अथवा मध्यम वृत्तिसे तथा अन्ततः—अन्तिम आयुमें अथवा निकृष्ट वृत्तिसे यानी तिरस्कारपूर्वक देनेसे इसे उसी प्रकार अन्नकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जो इस प्रकार जानता है—जो इस प्रकार अन्नका पूर्वोक्त माहात्म्य और उसके दानका फल जानता है उसे पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति होती है ।

इदानीं ब्रह्मण उपासनप्रकार उच्यते—क्षेम इति वाचि । क्षेमो नामोपात्तपरिरक्षणम् । ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् । योगक्षेम इति, योगोऽनुपात्तस्योपादानम्, तौ हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः सतोर्भवतो यद्यपि तथापि न प्राणापाननिमित्तावेव किं तर्हि ब्रह्मनिमित्तौ; तस्माद्ब्रह्म योगक्षेमात्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् ।

ब्रह्मोपासन-प्रकारान्तराणि 'मानुषी समाज्ञा'

एवमुत्तरेष्वन्येषु तेन तेनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम् । कर्मणो ब्रह्मनिर्वर्त्यत्वाद्धस्तयोः कर्मात्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इत्येता मानुषीर्मनुष्येषु भवा मानुष्यः

अब ब्रह्मकी उपासनाका [एक और] प्रकार बतलाया जाता है—'क्षेम है' इस प्रकार वाणीमें । प्राप्त पदार्थकी रक्षा करनेका नाम 'क्षेम' है । वाणीमें ब्रह्म क्षेमरूपसे स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये । 'योगक्षेम'—अप्राप्त वस्तुका प्राप्त करना 'योग' कहलाता है । वे योग और क्षेम यद्यपि बलवान् प्राण और अपानके रहते हुए ही होते हैं, तो भी उनका कारण प्राण एवं अपान ही नहीं है । तो उनका कारण क्या है ? वे ब्रह्मके कारण ही होते हैं । अतः योगक्षेमरूपसे ब्रह्म प्राण और अपानमें स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये ।

इसी प्रकार आगेके अन्य पर्यायोंमें भी उन-उनके रूपसे ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये । कर्म ब्रह्मकी ही प्रेरणासे निष्पन्न होता है; अतः हाथोंमें ब्रह्म कर्मरूपसे स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये । चरणोंमें गतिरूपसे और पायुमें विसर्जनरूपसे [प्रतिष्ठित समझकर उसकी उपासना करे] । इस प्रकार 'यह मानुषी—मनुष्योंमें

समाज्ञाः; आध्यात्मिक्यः समाज्ञा ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानीत्यर्थः ।

अथानन्तरं दैवीर्दैव्यो देवेषु भवाः समाज्ञा उच्यन्ते । तृप्तिरिति वृष्टौ । वृष्टेरन्नादिद्वारेण तृप्तिहेतुत्वाद्ब्रह्मैव तृप्त्यात्मना वृष्टौ व्यवस्थितमित्युपास्यम् । तथान्येषु तेन तेनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम् । तथा बलरूपेण विद्युति ॥ २ ॥ यशोरूपेण पशुषु । ज्योतीरूपेण नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतममृतत्वप्राप्तिः पुत्रेण ऋणविमोक्षद्वारेणानन्दः सुखमित्येतत्सर्वमुपस्थनिमित्तं ब्रह्मैवानेनात्मनोपस्थे प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् ।

'दैवी समाज्ञा'

सर्वं ह्याकाशे प्रतिष्ठितमतो यत्सर्वमाकाशे तद्ब्रह्मैवेत्युपास्यम् । तच्चाकाशं ब्रह्मैव । तस्मात्तत्

रहनेवाली समाज्ञा है, अर्थात् यह आध्यात्मिक समाज्ञा—ज्ञान—विज्ञान यानी उपासना है—यह इसका तात्पर्य है ।

अब इसके पश्चात् दैवी—देवसम्बन्धिनी अर्थात् देवताओंमें होनेवाली समाज्ञा कही जाती है । तृप्ति इस भावसे वृष्टिमें [ब्रह्मकी उपासना करे] । अन्नादिके द्वारा वृष्टि तृप्तिका कारण है । अतः तृप्तिरूपसे ब्रह्म ही वृष्टिमें स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये । इसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें भी उन-उनके रूपसे ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये । अर्थात् बलरूपसे विद्युत्में ॥ २ ॥ यशरूपसे पशुओंमें, ज्योतिरूपसे नक्षत्रोंमें, प्रजाति (पुत्रादि प्रजा) अमृत—अर्थात् पुत्रद्वारा पितृऋणसे मुक्त होनेके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति और आनन्द—सुख ये सब उपस्थके निमित्तसे ही होनेवाले हैं; अतः इनके रूपसे ब्रह्म ही उपस्थमें स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये ।

सब कुछ आकाशमें ही स्थित है । अतः आकाशमें जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये । तथा वह आकाश भी ब्रह्म ही है ।

सर्वस्य प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठागुणोपासनात्प्रतिष्ठावान्भवति । एवं पूर्वेष्वपि यद्यत्तदधीनं फलं तद्ब्रह्मैव तदुपासनात्तद्वान्भवतीति द्रष्टव्यम् । श्रुत्यन्तराच्च—"तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति ।

तन्मह इत्युपासीत । महो महत्त्वगुणवत्तदुपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मननं मनः । मानवान्भवति मननसमर्थो भवति ॥ ३ ॥ तन्नम इत्युपासीत । नमनं नमो नमनगुणवत्तदुपासीत । नम्यन्ते प्रह्वीभवन्त्यस्मा उपासित्रे कामाः काम्यन्त इति भोग्या विषया इत्यर्थः ।

अतः वह सबकी प्रतिष्ठा (आश्रय) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । प्रतिष्ठा गुणवान् ब्रह्मकी उपासना करनेसे उपासक प्रतिष्ठावान् होता है । ऐसा ही पूर्व सब पर्यायोंमें समझना चाहिये । जो-जो उसके अधीन फल है वह ब्रह्म ही है । उसकी उपासनासे पुरुष उसी फलसे युक्त होता है—ऐसा जानना चाहिये । यही बात "जिस-जिस प्रकार उसकी उपासना करता है वह (उपासक) वही हो जाता है" इस एक दूसरी श्रुतिसे प्रमाणित होती है ।

वह महः है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । महः अर्थात् महत्त्व गुणवाला है—ऐसे भावसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक महान् हो जाता है । वह मन है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । मननका नाम मन है । इससे वह मानवान्—मननमें समर्थ हो जाता है ॥३॥ वह नमः है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । नमनका नाम 'नमः' है अर्थात् उसे नमन-गुणवान् समझकर उपासना करे । इससे उस उपासकके प्रति सम्पूर्ण काम—जिनकी कामना की जाय वे भोग्य विषय नत अर्थात् विनम्र हो जाते हैं ।

तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्म परिवृढतममित्युपासीत । ब्रह्मवांस्तद्गुणो भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । ब्रह्मणः परिमरः परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निरित्येताः । अतो वायुः परिमरः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । स एष एवायं वायुराकाशेनानन्य इत्याकाशो ब्रह्मणः परिमरः, तमाकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत ।

वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । ब्रह्म यानी सबसे बढ़ा हुआ है—इस प्रकार उपासना करे । इससे वह ब्रह्मवान्—ब्रह्मके-से गुणवाला हो जाता है । वह ब्रह्मका परिमर है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । ब्रह्मका परिमर—जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि—ये पाँच देवता मृत्युको प्राप्त होते हैं उसे परिमर कहते हैं; अतः वायु ही परिमर है, जैसा कि ["वायुर्वाव संवर्गः" इस] एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । वही यह वायु आकाशसे अभिन्न है, इसलिये आकाश ही ब्रह्मका परिमर है । अतः वायुरूप आकाशकी 'यह ब्रह्मका परिमर है' इस भावसे उपासना करे ।

एनमेवंविदं प्रतिस्पर्धिनो द्विषन्तोऽद्विषन्तोऽपि सपत्ना यतो भवन्त्यतो विशेष्यन्ते द्विषन्तः सपत्ना इति, एनं द्विषन्तः सपत्नास्ते परिम्रियन्ते प्राणाञ्जहति । किं च ये चाप्रिया अस्य भ्रातृव्या अद्विषन्तोऽपि ते च परिम्रियन्ते ।

इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकके द्वेष करनेवाले प्रतिपक्षी—क्योंकि प्रतिपक्षी द्वेष न करनेवाले भी होते हैं इसलिये यहाँ 'द्वेष करनेवाले' यह विशेषण दिया गया है—मर जाते हैं अर्थात् प्राण त्याग देते हैं । तथा इसके जो अप्रिय भ्रातृव्य होते हैं वे, द्वेष करनेवाले न होनेपर भी, मर जाते हैं ।

'प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादम्' इत्यारभ्याकाशान्तस्य कार्यस्यैवान्नान्नादत्वमुक्तम् ।

आत्मनोऽसंसारित्वस्थापनम्

उक्तं नाम किं तेन ?

तेनैतत्सिद्धं भवति—कार्यविषय एव भोज्यभोक्तृत्वकृतः संसारो न त्वात्मनीति । आत्मनि तु भ्रान्त्योपचर्यते ।

नन्वात्मापि परमात्मनः कार्यं ततो युक्तस्तस्य संसार इति ।

न; असंसारिण एव प्रवेशश्रुतेः । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १) इत्याकाशादिकारणस्य ह्यसंसारिण एव परमात्मनः कार्येष्वनुप्रवेशः श्रूयते । तस्मात्कार्यानुप्रविष्टो जीव आत्मा पर एव असंसारी । सृष्ट्वानुप्राविशदिति समानकर्तृकत्वोपपत्तेश्च । सर्ग-

'प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है' यहाँसे लेकर आकाशपर्यन्त कार्यवर्गका ही अन्न और अन्नादत्व प्रतिपादन किया गया है ।

पूर्व०—कहा गया है—सो इससे क्या हुआ ?

सिद्धान्ती—इससे यह सिद्ध होता है कि भोज्य और भोक्ताके कारण होनेवाला संसार कार्यवर्गसे ही सम्बन्धित है, वह आत्मामें नहीं है; आत्मामें तो भ्रान्तिवश उसका उपचार किया जाता है ।

पूर्व०—परन्तु आत्मा भी तो परमात्माका कार्य है । इसलिये उसे संसारकी प्राप्ति होना उचित ही है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश-श्रुति असंसारीका ही प्रवेश प्रतिपादन करती है । "उसे रचकर वह पीछेसे उसीमें प्रविष्ट हो गया" इस श्रुतिद्वारा आकाशादिके कारणरूप असंसारी परमात्माका ही कार्योंमें अनुप्रवेश सुना गया है । अतः कार्यमें अनुप्रविष्ट जीवात्मा असंसारी परमात्मा ही है । 'रचकर पीछेसे प्रविष्ट हो गया' इस वाक्यसे एक ही कर्ता होना सिद्ध होता है । यदि

प्रवेशक्रिययोश्चैकश्चेत्कर्ता ततः क्त्वाप्रत्ययो युक्तः ।

सृष्टि और प्रवेशक्रियाका एक ही कर्त्ता होगा तभी 'क्त्वा' प्रत्यय होना युक्त होगा ।

प्रविष्टस्य तु भावान्तरापत्तिरिति चेत् ?

पूर्व०—प्रवेश कर लेनेपर उसे दूसरे भावकी प्राप्ति हो जाती है—ऐसा माने तो ?

न; प्रवेशस्यान्यार्थत्वेन प्रत्याख्यातत्वात् । "अनेन जीवेनात्मना" (छा० उ० ६ । ३ । २) इति विशेषश्रुतेर्धर्मान्तरेणानुप्रवेश इति चेत् ? न, "तत्त्वमसि" इति पुनस्तद्भावोक्तेः । भावान्तरापन्नस्यैव तदपोहार्था संपदिति चेत् ? न; "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) इति सामानाधिकरण्यात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेशका प्रयोजन दूसरा ही है—ऐसा कहकर हम इसका पहले ही निराकरण कर चुके हैं ।* यदि कहो कि "अनेन जीवेन आत्मना" इत्यादि विशेष श्रुति होनेके कारण उसका धर्मान्तररूपसे ही प्रवेश होता है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि "वह तू है" इस श्रुतिद्वारा पुनः उसकी तद्रूपताका वर्णन किया गया है । और यदि कहो कि भावान्तरको प्राप्त हुए ब्रह्मके उस भावका निषेध करनेके लिये ही वह केवल दृष्टिमात्र कही गयी है तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि "वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है" इत्यादि श्रुतिसे उसका परमात्माके साथ सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है ।

दृष्टं जीवस्य संसारित्वमिति चेत् ?

पूर्व०—जीवका संसारित्व तो स्पष्ट देखा है ।

* देखिये ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ६ का भाष्य ।

न; उपलब्धुरनुपलभ्यत्वात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि जो (जीव) सबका द्रष्टा है वह देखा नहीं जा सकता ।

संसारधर्मविशिष्ट आत्मोपलभ्यत इति चेत् ?

*पूर्व*०—सांसारिक धर्मोंसे युक्त आत्मा तो उपलब्ध होता ही है ?

न; धर्माणां धर्मिणोऽव्यतिरेकात्कर्मत्वानुपपत्तेः, उष्णप्रकाशयोर्दाह्यप्रकाश्यत्वानुपपत्तिवत् । त्रासादिदर्शनाद्दुःखित्वाद्यनुमीयत इति चेत् ? न; त्रासादेर्दुःखस्य चोपलभ्यमानत्वान्नोपलब्धृधर्मत्वम् ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि धर्म अपने धर्मीसे अभिन्न होते हैं अतः वे उसके कर्म नहीं हो सकते, जिस प्रकार कि [सूर्यके धर्म] उष्ण और प्रकाशका दाह्यत्व और प्रकाश्यत्व सम्भव नहीं है । यदि कहो कि भय आदि देखनेसे आत्माके दुःखित्व आदिका अनुमान होता ही है—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि भय आदि दुःख उपलब्ध होनेवाले होनेके कारण उपलब्ध करनेवाले [आत्मा] के धर्म नहीं हो सकते ।

कापिलकाणादादितर्कशास्त्रविरोध इति चेत् ?

*पूर्व*०—परन्तु ऐसा माननेसे तो कपिल और कणाद आदिके तर्कशास्त्रसे विरोध आता है ।

न; तेषां मूलाभावे वेदविरोधे च । भ्रान्तत्वोपपत्तेः । श्रुत्युपपत्तिभ्यां च सिद्धमात्मनोऽसंसारित्वमेकत्वाच्च ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका कोई आधार न होनेसे और वेदसे विरोध होनेसे भ्रान्तिमय होना उचित ही है । श्रुति और युक्तिसे आत्माका असंसारित्व सिद्ध होता है तथा एक होनेके कारण भी ऐसा ही जान पड़ता है ।

कथमेकत्वमित्युच्यते—स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक इत्येवमादि पूर्ववत् सर्वम् ॥ ४ ॥

उसका एकत्व कैसे है ? सो सबका सब पूर्ववत् 'वह जो कि इस पुरुषमें है और जो यह आदित्यमें है एक है' इस वाक्यद्वारा बतलाया गया है ॥ ४ ॥

आदित्य और देहोपाधिक चेतनकी एकता जाननेवाले उपासकको मिलनेवाला फल

स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते । हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥ ५ ॥

वह जो इस प्रकार जाननेवाला है इस लोक (दृष्ट और अदृष्ट विषय-समूह) से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस प्राणमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, तथा इस आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर इन लोकोंमें कामान्नी (इच्छानुसार भोग भोगता हुआ) और कामरूपी होकर (इच्छानुसार रूप धारण कर) विचरता हुआ यह सामगान करता रहता है—हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥ ५ ॥

अन्नमयादिक्रमेणानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्यैतत्साम गायन्नास्ते ।

सोऽश्नुते सर्वान्कामानिति मीमांस्यते

सत्यं ज्ञानमित्यस्या ऋचोऽर्थो व्याख्यातो विस्तरेण तद्विवरणभूतयानन्दवल्ल्या । "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० उ० २ । १) इति तस्य फलवचनस्यार्थविस्तारो नोक्तः । के ते किंविषया वा सर्वे कामाः कथं वा ब्रह्मणा सह समश्नुत इत्येतद्वक्तव्यमितीदमिदानीमारभ्यते—

तत्र पितापुत्राख्यायिकायां पूर्वविद्याशेषभूतायां तपो ब्रह्मविद्यासाधनमुक्तम् । प्राणादेराकाशान्तस्य च कार्यस्यान्नान्नादत्वेन विनियोगश्चोक्तः, ब्रह्मविषयोपासनानि च । ये च सर्वे

अन्नमय आदिके क्रमसे आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर वह यह सामगान करता रहता है ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस ऋचाके अर्थकी, इसकी विवरणभूता ब्रह्मानन्दवल्लीके द्वारा विस्तारपूर्वक व्याख्या कर दी गयी थी । किन्तु उसके फलका निरूपण करनेवाले "वह सर्वज्ञ ब्रह्मस्वरूपसे एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है" इस वचनके अर्थका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया था । वे भोग क्या हैं ? उनका किन विषयोंसे सम्बन्ध है ? और किस प्रकार वह उन्हें ब्रह्मरूपसे एक साथ ही प्राप्त कर लेता है ?—यह सब बतलाना है, अतः अब इसीका विचार आरम्भ किया जाता है—

तहाँ पूर्वोक्त विद्याकी शेषभूत पितापुत्रसम्बन्धिनी आख्यायिकामें तप ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिका साधन बतलाया गया है; तथा आकाशपर्यन्त प्राणादि कार्यवर्गका अन्न और अन्नादरूपसे विनियोग एवं ब्रह्मसम्बन्धिनी उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है । इसी प्रकार आकाशादि कार्यभेदसे सम्बन्धित

कामाः प्रतिनियतानेकसाधनसाध्या आकाशादिकार्यभेदविषया एते दर्शिताः । एकत्वे पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः । भेदजातस्य सर्वस्यात्मभूतत्वात् । तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण सर्वान्कामानेवंवित्समश्नुत इत्युच्यते—सर्वात्मत्वोपपत्तेः ।

एवं प्रत्येकके लिये नियत अनेक साधनोंसे सिद्ध होनेवाले जो सम्पूर्ण भोग हैं वे भी दिखला दिये गये हैं। परन्तु यदि आत्माका एकत्व स्वीकार किया जाय तब तो काम और कामित्वका होना ही असम्भव होगा, क्योंकि सम्पूर्ण भेदजात आत्मस्वरूप ही है। ऐसी अवस्थामें इस प्रकार जाननेवाला उपासक ब्रह्मरूपसे किस प्रकार एक ही साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है? सो बतलाया जाता है—उसका सर्वात्मभाव सम्भव होनेके कारण ऐसा हो सकता है।*

कथं सर्वात्मत्वोपपत्तिरित्याह—पुरुषादित्यस्थात्मैकत्वविज्ञानेनापोह्योत्कर्षापकर्षावन्नमयाद्यात्मनोऽविद्याकल्पितान्क्रमेण संक्रम्यानन्दमयान्तान्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मादृश्यादिधर्मकं स्वाभाविक-

उसका सर्वात्मत्व किस प्रकार सम्भव है? सो बतलाते हैं—पुरुष और आदित्यमें स्थित आत्माके एकत्वज्ञानसे उनके उत्कर्ष और अपकर्षका निराकरण कर आत्माके अज्ञानसे कल्पना किये हुए अन्नमयसे लेकर आनन्दमयपर्यन्त सम्पूर्ण कोशोंके प्रति संक्रमण कर जो सबका फलस्वरूप है उस अदृश्यादि धर्मवाले स्वाभाविक आनन्दस्वरूप

* तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मकी अभेदोपासना करते-करते उससे तादात्म्य अनुभव करने लगता है वह सबका अन्तरात्मा ही हो जाता है; इसलिये सबके अन्तरात्मस्वरूपसे वह सम्पूर्ण भोगोंको भोगता है।

मानन्दमजममृतमभयमद्वैतं फलभूतमापन्न इमाँल्लोकान्भूरादीननुसंचरन्निति व्यवहितेन संबन्धः। कथमनुसंचरन्? कामान्नी कामतोऽन्नमस्येति कामान्नी। तथा कामतो रूपाण्यस्येति कामरूपी। अनुसंचरन्सर्वात्मनेमाँल्लोकानात्मत्वेनानुभवन्—किम्? एतत्साम गायन्नास्ते।

अजन्मा, अमृत, अभय, अद्वैत एवं सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्मको प्राप्त हो इन भूः आदि लोकोंमें सञ्चार करता हुआ—इस प्रकार इन व्यवधानयुक्त पदोंसे इस वाक्यका सम्बन्ध है—किस प्रकार सञ्चार करता हुआ? कामान्नी—जिसको इच्छासे ही अन्न प्राप्त हो जाय उसे कामान्नी कहते हैं, तथा जिसे इच्छासे ही [इष्ट] रूपोंकी प्राप्ति हो जाय ऐसा कामरूपी होकर सञ्चार करता हुआ अर्थात् सर्वात्मभावसे इन लोकोंको अपने आत्मारूपसे अनुभव करता हुआ—क्या करता है? इस सामका गान करता रहता है।

ब्रह्मविदः सामगानाभिप्रायः

समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वानन्यरूपं गायञ्शब्दयन्नात्मैकत्वं प्रख्यापयँल्लोकानुग्रहार्थं तद्विज्ञानफलं चातीव कृतार्थत्वं गायन्नास्ते तिष्ठति। कथम्? हा ३ वु! हा३वु! हा३वु! अहो इत्येतस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थम्॥५॥

समरूप होनेके कारण ब्रह्म ही साम है। उस सबसे अभिन्नरूप सामका गान—उच्चारण करता हुआ अर्थात् लोकपर अनुग्रह करनेके लिये आत्माकी एकताको प्रकट करता हुआ और उसकी उपासनाके फल अत्यन्त कृतार्थत्वका गान करता हुआ स्थित रहता है। किस प्रकार गान करता है—हा ३ वु! हा ३ वु! हा ३ वु! ये तीन शब्द 'अहो!' इस अर्थमें अत्यन्त विस्मय प्रकट करनेके लिये हैं॥५॥

ब्रह्मवेत्ताद्वारा गाया जानेवाला साम ।

कः पुनरसौ विस्मयः ? इत्युच्यते—

किन्तु वह विस्मय क्या है ? सो बतलाया जाता है—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३ ऽहमन्नादो३ ऽहमन्नादः । अह१ँश्लोककृदह१ँश्लोककृदह१ँश्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३ भायि । यो मा ददाति स इदेव मा३वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्न ज्योतीः य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥ ६ ॥

मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं ही अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ; मैं ही श्लोककृत् (अन्न और अन्नादके संघातका कर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ । मैं ही इस सत्यासत्यरूप जगत्के पहले उत्पन्न हुआ [हिरण्यगर्भ] हूँ । मैं ही देवताओंसे पूर्ववर्ती विराट् एवं अमृतत्वका केन्द्रस्वरूप हूँ । जो [अन्नस्वरूप] मुझे [अन्नार्थियोंको] देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु [जो मुझ अन्नस्वरूपको दान न करता हुआ स्वयं भोगता है उस] अन्न भक्षण करनेवालेको मैं अन्नरूपसे भक्षण करता हूँ । मैं इस सम्पूर्ण भुवनका पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्यके समान नित्यप्रकाशस्वरूप है । ऐसी यह उपनिषद् [ब्रह्मविद्या] है । जो इसे इस प्रकार जानता है [उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है] ॥ ६ ॥

अद्वैत आत्मा निरञ्जनोऽपि सन्नहमेवान्नमन्नादश्च । किं चाहमेव श्लोककृत् । श्लोको नामान्नान्नादयोः संघातस्तस्य कर्ता

निर्मल अद्वैत आत्मा होनेपर भी मैं ही अन्न और अन्नाद हूँ, तथा मैं ही श्लोककृत् हूँ । 'श्लोक' अन्न और अन्नादके संघातको कहते हैं उसका

चेतनावान् । अन्नस्यैव वा परार्थस्यान्नादार्थस्य सतोऽनेकात्मकस्य पारार्थ्येन हेतुना संघातकृत् । त्रिरुक्तिर्विस्मयत्वख्यापनार्था ।

अहमस्मि भवामि । प्रथमजाः प्रथमजः प्रथमोत्पन्न ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतः । देवेभ्यश्च पूर्वम् । अमृतस्य नाभिरमृतत्वस्य नाभिर्मध्यं मत्संस्थममृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः ।

यः कश्चिन्मा मामन्नमन्नार्थिभ्यो ददाति प्रयच्छत्यन्नात्मना ब्रवीति स इदित्थमेवमविनष्टं यथाभूतमावा अवतीत्यर्थः । यः पुनरन्यो मामदत्त्वार्थिभ्यः काले प्राप्तेऽन्नमत्ति तमन्नमदन्तं भक्षयन्तं पुरुषमहमन्नमेव संप्रत्यद्मि भक्षयामि ।

अत्राहैवं तर्हि बिभेमि सर्वात्मत्वप्राप्तेर्मोक्षादस्तु संसार एव

चेतनावान् कर्ता हूँ । अथवा परार्थ यानी अन्नादके लिये होनेवाले अन्नका, जो पारार्थ्यरूप हेतुके कारण ही अनेकात्मक है, मैं संघात करनेवाला हूँ । मूलमें जो तीन बार कहा गया है वह विस्मयत्व प्रकट करनेके लिये है।

मैं इस ऋत—सत्य यानी मूर्तामूर्तरूप जगत्का 'प्रथमजा'—प्रथम उत्पन्न होनेवाला (हिरण्यगर्भ) हूँ। मैं देवताओंसे पहले होनेवाला और अमृतका नाभि यानी अमरत्वका मध्य (केन्द्रस्थान) हूँ; अर्थात् प्राणियोंका अमृतत्व मेरेमें स्थित है ।

जो कोई अन्नरूप मुझे अन्नार्थियोंको दान करता है अर्थात् अन्नात्मभावसे मेरा वर्णन करता है वह इस प्रकार अविनष्ट और यथार्थ अन्नस्वरूप मेरी रक्षा करता है । किन्तु जो समय उपस्थित होनेपर अन्नार्थियोंको मेरा दान न कर स्वयं ही अन्न भक्षण करता है उस अन्न भक्षण करनेवाले पुरुषको मैं अन्न ही खा जाता हूँ ।

इसपर कोई वादी कहता है—यदि ऐसी बात है तब तो मैं सर्वात्मत्वप्राप्तिरूप मोक्षसे डरता हूँ; इससे तो मुझे संसारहीकी प्राप्ति

यतो मुक्तोऽप्यहमन्नभूत आद्यः स्यामन्नस्य ।

हो [यही अच्छा है], क्योंकि मुक्त होनेपर मैं भी अन्नभूत होकर अन्नका भक्ष्य होऊँगा ।

एवं मा भैषीः संव्यवहारविषयत्वात्सर्वकामाशनस्य अतीत्यायं संव्यवहारविषयमन्नान्नादादिलक्षणमविद्याकृतं विद्यया ब्रह्मत्वमापन्नो विद्वांस्तस्य नैव द्वितीयं वस्त्वन्तरमस्ति यतो बिभेत्यतो न भेतव्यं मोक्षात् ।

सिद्धान्ती—ऐसे मत डरो, क्योंकि सब प्रकारके भोगोंको भोगना यह तो व्यावहारिक ही है । विद्वान् तो ब्रह्मविद्याके द्वारा इस अविद्याकृत अन्न-अन्नादरूप व्यावहारिक विषयका उल्लङ्घन कर ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है । उसके लिये कोई दूसरी वस्तु ही नहीं रहती, जिससे कि उसे भय हो । इसलिये तुझे मोक्षसे नहीं डरना चाहिये ।

एवं तर्हि किमिदमाह—अहमन्नमहमन्नाद इति ? उच्यते—योऽयमन्नान्नादादिलक्षणः संव्यवहारः कार्यभूतः स संव्यवहारमात्रमेव न परमार्थवस्तु । स एवंभूतोऽपि ब्रह्मनिमित्तो ब्रह्मव्यतिरेकेणासन्निति कृत्वा ब्रह्मविद्याकार्यस्य ब्रह्मभावस्य स्तुत्यर्थमुच्यते । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद इत्यादि । अतो भया-

यदि ऐसी बात है तो 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ' ऐसा क्यों कहा है—ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है—यह जो अन्न और अन्नादरूप कार्यभूत व्यवहार है वह व्यवहारमात्र ही है—परमार्थवस्तु नहीं है । वह ऐसा होनेपर भी ब्रह्मका कार्य होनेके कारण ब्रह्मसे पृथक् असत् ही है—इस आशयको लेकर ही ब्रह्मविद्याके कार्यभूत ब्रह्मभावकी स्तुतिके लिये 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ' इत्यादि कहा जाता है । इस प्रकार अविद्याका नाश हो जानेके कारण ब्रह्मभूत

दिदोषगन्धोऽप्यविद्यानिमित्तोऽविद्योच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीति ।

अहं विश्वं समस्तं भुवनं भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्भवन्तीति वास्मिन्भूतानीति भुवनमभ्यभवामभिभवामि परेणेश्वरेण स्वरूपेण । सुवर्न ज्योतीः सुवरादित्यो नकार उपमार्थे । आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीर्ज्योतिः प्रकाश इत्यर्थः ।

इति वल्लीद्वयविहितोपनिषत्परमात्मज्ञानं तामेतां यथोक्तामुपनिषदं शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा भृगुवत्तपो महदास्थाय य एवं वेद तस्येदं फलं यथोक्तमोक्ष इति ॥ ६ ॥

विद्वान्‌को अविद्याके कारण होनेवाले भय आदि दोषका गन्ध भी नहीं होता ।

मैं अपने श्रेष्ठ ईश्वररूपसे विश्व यानी सम्पूर्ण भुवनका पराभव (उपसंहार) करता हूँ । जो ब्रह्मादि भूतों (प्राणियों) के द्वारा संभजनीय (भोगे जाने योग्य) हैं अथवा जिसमें भूत (प्राणी) होते हैं उसका नाम भुवन है । 'सुवर्न ज्योतिः'—'सुवः' आदित्यका नाम है और 'न' उपमाके लिये है; अर्थात् हमारी ज्योति—हमारा प्रकाश आदित्यके समान प्रकाशमान है ।

इस प्रकार इन दो वल्लियोंमें कही हुई उपनिषत् परमात्माका ज्ञान है । इस उपर्युक्त उपनिषत्‌को जो भृगुके समान शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर महान् तपस्या करके इस प्रकार जानता है उसे यह उपर्युक्त मोक्षरूप फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इति भृगुवल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये भृगुवल्ली समाप्ता ॥

समाप्तेयं कृष्णयजुर्वेदीया तैत्तिरीयोपनिषत् ॥

ॐ

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः।
नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्।
सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्।
आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका